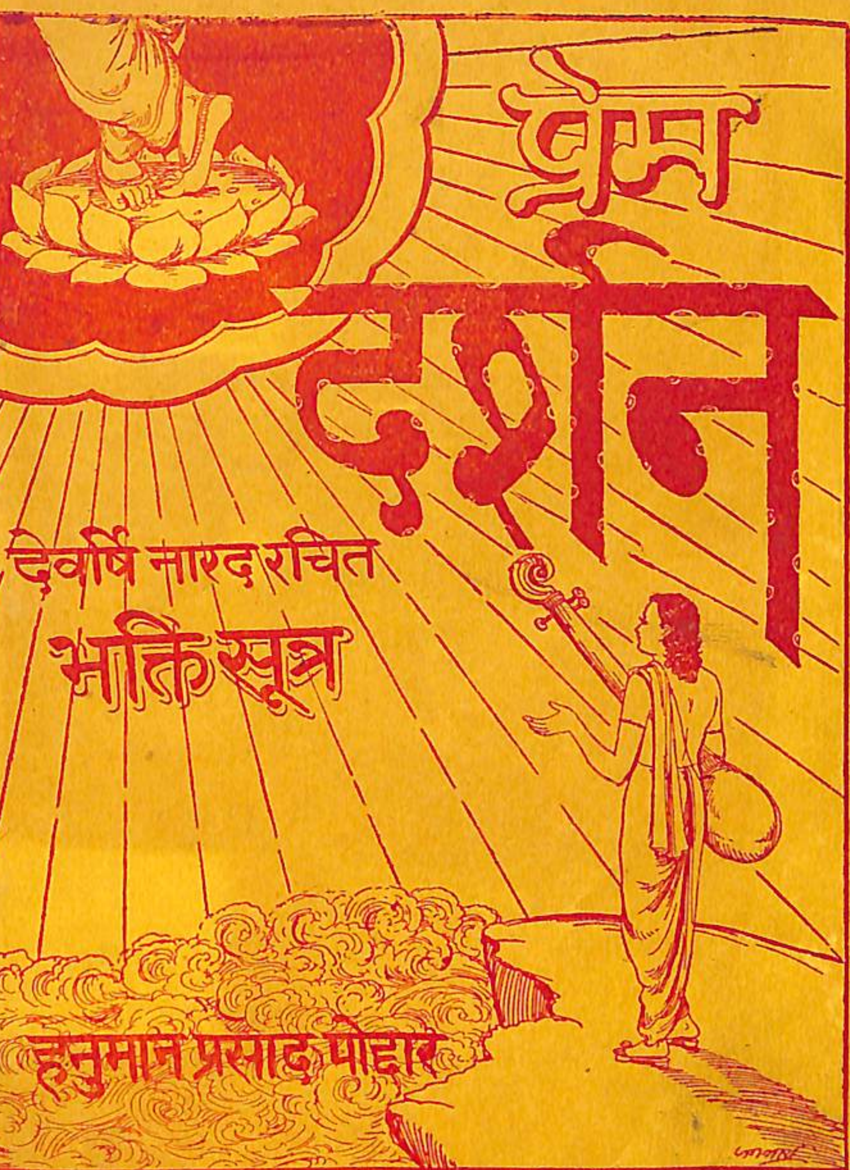

प्रेम
दर्शन
देवर्षि नारद रचित
भक्ति सूत्र
हनुमान प्रसाद पोद्दार

ॐ

प्रेम-दर्शन

देवर्षि नारदविरचित

(भक्तिसूत्र)

प्रेमरूपा भक्तिका सुन्दर वर्णन व्याख्यासहित

लेखक—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१–प्रार्थना और निवेदन	···	३
२–देवर्षि नारद	···	९
३–प्रेमरूपा भक्तिका स्वरूप	···	१९
४–प्रेममें अनन्यता	···	३०
५–प्रेमरूपा भक्तिके लक्षण और उदाहरण	···	३९
६–प्रेमरूपा भक्ति फलरूपा है	···	५६
७–प्रेमरूपा भक्तिके साधन और सत्संगकी महिमा	···	६४
८–प्रेमरूपा भक्तिमें प्रधान बाधा कुसंगति है	···	८६
९–मायासे कौन तरता है ?	···	९२
१०–प्रेमरूपा भक्ति और गौणी भक्तिका स्वरूप	···	१०३
११–भक्तिकी सुलभता और महत्ता	···	११३
१२–भक्तिके साधन और अन्तराय	···	११६
१३–प्रेमी भक्तोंकी महिमा	···	१३४
१४–वाद-विवादरूपी विघ्न	···	१४७
१५–भक्तिके प्रधान सहायक	···	१५१
१६–प्रेमा भक्तिका फल और भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता	···	१७९

सं० १९९२ से २००६ तक पाँच बारमें ३४,२५०
सं० २००८ सप्तम संस्करण १०,०००
कुल ४४,२५०

मूल्य ।-) पाँच आना

पता–**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीहरिः

प्रार्थना और निवेदन

नवजलधरवर्णं चम्पकोद्भासिकर्णं
विकसितनलिनास्यं विस्फुरन्मन्दहास्यम् ।
कनकरुचिदुकूलं चारुबर्हावचूलं
कमपि निखिलसारं नौमि गोपीकुमारम् ॥
मुखजितशरदिन्दुः केलिलावण्यसिन्धुः
करविनिहतकन्दुर्बल्लवीप्राणबन्धुः ।
वपुरुपसृतरेणुः कक्षनिक्षिप्तवेणु-
र्वचनवशगधेनुः पातु मां नन्दसूनुः ॥
त्वां च वृन्दावनाधीश त्वां च वृन्दावनेश्वरि ।
काकुभिर्वन्द्यमानोऽयं मन्दः प्रार्थयते जनः ॥
योग्यता मे न काचिद्वां कृपालाभाय यद्यपि ।
महाकृपालुमौलित्वात्तथापि कुरुतं कृपाम् ॥
अयोग्ये सापराधेऽपि दृश्यन्ते कृपयाकुलाः ।
महाकृपालवो हन्त लोके लोकेशवन्दितौ ॥
भक्तेर्वां करुणाहेतोर्लेशाभासोऽपि नास्ति मे ।
महालीलेश्वरतया तथाप्यत्र प्रसीदतम् ॥
यदक्षम्यं नु युवयोः सकृद्भक्तिलवादपि ।
तदागः क्वापि नास्त्येव कृत्वाशां प्रार्थये ततः ॥
एष पापी रुदन्नुच्चैरादाय रदनैस्तृणम् ।
हा नाथौ नाथति प्राणी सीदत्यत्र प्रसीदतम् ॥

हाहारावमसौ कुर्वन् दुर्भगो भिक्षते जनः।
एतां मे शृणुतं काकुं काकुं शृणुतमीश्वरौ॥
वाचेह दीनया याचे साक्रन्दमतिमन्दधीः।
किरतं करुणस्वान्तौ करुणोर्मिच्छटामपि॥
मधुराः सन्ति यावन्तो भावाः सर्वत्र चेतसः।
तेभ्योऽपि प्रेम मधुरं प्रसादीकुरुतं निजम्॥
नाथितं परमेवेदमनाथजनवत्सलौ।
स्वं साक्षाद्दास्यमेवास्मिन् प्रसादीकुरुतं जने॥
अञ्जलिं मूर्ध्नि विन्यस्य दीनोऽयं भिक्षते जनः।
अस्य सिद्धिरभीष्टस्य सकृदप्युपपाद्यताम्॥

(स्तवपुष्पाञ्जलि)

सन् १९१६ ई० में सबसे पहले मैंने देवर्षि नारदके सूत्रोंकी एक बँगलामें छपी हुई पुस्तक देखी थी। उस समय मैं एकान्तवासमें था। भगवान्‌की कृपासे परमार्थ-साधनकी ओर कुछ मन लगता था, उसमें देवर्षिके सूत्रोंसे बड़ी सहायता मिली। वहीं सूत्रोंपर विचार करते-करते उनका भावार्थ लिखनेकी इच्छा हुई और कुछ समय बाद भावार्थ लिखा भी गया। छपानेकी न उस समय इच्छा थी और न सुविधा ही। लगभग सन् १९२० ई० में मैं बम्बईमें था, वहाँ एक दिन श्रीवेंकटेश्वरप्रेसके स्वामी स्व० सेठ खेमराजजीसे बातों-ही-बातोंमें सूत्रोंकी चर्चा चल गयी। उन्होंने बड़े आग्रहसे पाण्डुलिपि मुझसे ले ली और छापनेके लिये उसे प्रेसमें भी दे दिया; परन्तु असावधानतावश वहाँ पड़ी रह गयी। मुझे कोई विशेष आग्रह था नहीं, इससे मैंने कोई ताकीद नहीं की। सेठजीका स्वर्गवास हो गया। उसके अनन्तर कई वर्षों बाद मैं वहाँसे उस प्रतिको वापस माँग लाया। छपवानेका मन नहीं था। सङ्कोच था कि भक्तिशास्त्र-पर मैं टीका लिखनेवाला कौन? परन्तु ज्यों-ज्यों प्रसिद्धि बढ़ने लगी,

वह सात्त्विक सङ्कोच टूटने लगा। और अन्तमें छपानेकी बात स्थिर हो गयी। मैंने फिरसे उसे पढ़ा; उसमें कई जगह परिवर्तन-परिवर्द्धनकी आवश्यकता जान पड़ी, इससे छपानेका काम रुक गया। इस बार भगवत्-प्रेरणासे पुनः उसकी देख-भाल हुई और कुछ सुधार-बिगाड़ करनेके बाद 'कल्याण'में क्रमशः सब सूत्र छप गये। उसका कुछ परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप इस पुस्तकमें है।

जिस समय सन् १९१६ में इसका भावार्थ लिखा गया था, उस समय हिंदीमें शायद एक-दो टीकाएँ इसपर हुई होंगी। अब तो कई टीकाएँ हो चुकी हैं। इतना होनेपर भी इस टीकाको छपानेमें दो ही कारण हो सकते हैं—पहला तो मान-बड़ाईकी छिपी हुई कामना और दूसरा भक्तिशास्त्रकी आलोचनासे अपने कल्याणकी आशा। वस्तुतः भक्तिकी जितनी चर्चा हो उतना ही मङ्गल है। क्योंकि भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये भक्ति ही सर्वप्रधान साधन है, और साध्यरूपमें वही भगवत्प्रेम है। आशा है कि भक्त और विद्वान् पाठकगण इस प्रकार विचारकर मेरे इस कार्यको नितान्त निन्दनीय नहीं समझेंगे और मेरी धृष्टतापर क्षमा करेंगे, साथ ही मेरी भूलोंके लिये क्षमा करेंगे। प्रेममें भाषाकी अपेक्षा भावका ही विशेष मूल्य हुआ करता है। यद्यपि भक्तिशास्त्रपर कुछ भी व्याख्या-रूपसे लिखनेका मुझे अधिकार नहीं तथापि आशा है कि इस कार्यमें मेरी जो प्रवृत्ति हुई, उसको विज्ञ महानुभाव भगवत्प्रेरणा और भगवत्कृपा समझकर मुझपर प्रसन्न होंगे। क्योंकि भगवत्कृपा बिना मनुष्यकी उत्तम कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती। भक्तिशास्त्रकी आलोचना उत्तम-से-उत्तम कार्य है ही। कारण, इसमें भगवान्के दिव्य गुण, भगवान्के अलौकिक प्रेम, भगवान्की भक्ति, भगवत्प्रेमप्राप्तिके साधन और अन्ततः भगवान्के पवित्र नामोंकी तो चर्चा हुई है। इससे अवश्य ही मेरे नीरस और भक्तिशून्य हृदयमें कुछ रसका और भक्तिका सञ्चार हुआ होगा। एक महात्मा भक्तके इन वचनोंपर हमें दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि भगवान्के पवित्र नाम-गुणोंके स्मरण और कीर्तनसे मनुष्यका कलुषित हृदय भी क्रमशः पवित्र

होकर शिशुकी भाँति सरल हो जाता है। भगवान्‌के गुण और नामोंका कीर्तन हृदयकी सारी कालिमाओंको निःशेषरूपसे धो डालता है और प्रेमावेशके कारण शुद्ध और शान्तिमय दिव्य भावोंकी उत्पत्ति होकर उसके जन्म और जीवनको सफल कर देती है।

महापातकयुक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्।
पुनस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः॥

'महापातकी व्यक्ति भी यदि निमेषमात्र श्रीभगवान्‌का ध्यान करे तो वह पुनः पवित्र होकर पवित्र करनेवालोंको भी पवित्र कर सकता है।'

फिर इस ग्रन्थमें व्याख्यारूपसे जो कुछ लिखा गया है सो सभी संतोंकी जूठन-प्रसादी है। मेरा वस्तुतः इसमें कुछ है भी नहीं। इसलिये पाठकोंको मेरी ओर न देखकर सूत्रकार, सूत्र और सूत्रकी व्याख्यारूपमें लिखे हुए शास्त्रों और संतोंके भावोंपर ध्यान देना चाहिये।

षड्दर्शनोंकी भाँति भक्तिसूत्र भी एक दर्शन माना गया है। इसे भक्तगण सप्तम दर्शन कहते हैं। ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न पुरुष ही वास्तवमें भगवत्प्रेमके प्रकृत अधिकारी होते हैं। देवर्षिने चौरासी सूत्रोंमें ही भक्ति-तत्त्वकी व्याख्या, भक्तिके अन्तराय, भक्तिके साधन, भक्तिकी महिमा और भक्तोंका महत्त्व भलीभाँति प्रकट कर दिया है। अवश्य ही इसमें भगवान्‌के सगुण-साकार दिव्य स्वरूपकी भक्तिका वर्णन है, परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानसे इस भक्तिका कोई विरोध है। वरं स्वयं देवर्षिने व्रज-गोपियोंका उदाहरण देकर उनके मनमें श्रीभगवान्‌के माहात्म्यका ज्ञान होना सिद्ध किया है। श्रीभगवान्‌का ज्ञान ही न हो तो प्रेम किसमें हो। और यह तत्त्व सत्य ही है कि अभिन्न अखण्ड अनन्य अविकारी प्रेम होनेपर ही हृदयके असली तत्त्वका—प्रियतमके मनकी बातका पता लगता है। अतएव ज्ञान और भक्तिका इसमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार कर्मका भी विरोध नहीं है। भगवान्‌के लिये निष्काम कर्म करनेकी तो आज्ञा ही दी है। और कर्मोंका सर्वथा त्यागी भक्त भी अहर्निश

भगवान्‌के प्रेममें मस्त होकर भगवच्चिन्तनरूपी कर्म तो छोड़ ही नहीं सकता। इसलिये देवर्षिकथित भक्तिमें ज्ञान और कर्म दोनों ही हैं, अवश्य ही वे होने चाहिये भक्तिके अनुकूल। शुष्क ज्ञान और कर्मको इसमें स्थान नहीं है। इसमें ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सर्वत्र रस-ही-रस है। भगवान् रसमय हैं ही। और उसी रसमें परम आनन्द है। श्रुति भी यही कहती है—

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।'

भक्तिसे ही उस रसमय भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। भक्तिसे ही वह ऋषिमुनिदेवदुर्लभ परमानन्द मिलता है। अतएव भक्तिका ही आश्रय सबको लेना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

'सूर्यभगवान् रोज-रोज उदय और अस्त होते हैं; इसमें मनुष्योंकी आयु वृथा ही नष्ट होती है। बस, उतना ही समय सफल होता है जिसमें हरिचर्चा की जाती है। संसारमें जीते रहना और खाना-पीना कोई महत्त्व-की बात नहीं है। जैसे मनुष्य जीते हैं, वैसे ही क्या जड़ वृक्ष नहीं जीवित रहते? लोहारकी धौंकनी क्या मनुष्योंके समान ही साँस नहीं लेती? गाँवोंके पशु, कुत्ते, सूअर आदि क्या भोजन नहीं करते और मल-मूत्रका त्याग नहीं करते? कुत्ते जिस प्रकार दर-दर भटकते हुए लाठियाँ खाते हैं, गाँवोंके सूअर जैसे असार वस्तु ग्रहण करते हैं, ऊँट जैसे काँटे खाता है और गदहा जैसे केवल बोझ ढोता है, ठीक वैसे ही भगवान्‌की भक्तिसे हीन मनुष्य कुत्तेके समान सब ओरसे तिरस्कार पाता है। सूअरके समान असार विषयोंको ग्रहण करता है, ऊँटके समान दुःखभरे विषयरूपी काँटोंको खा-खाकर सदा दुखी रहता और गदहेके समान संसारके भारको ढोता और रोता रहता है। मनुष्यके वे कान साँपके बिलके समान हैं जिनमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीला नहीं जाकर विषयवार्तारूपी साँप जाते हैं। वह जीभ मेंढककी जीभके समान है जो भगवान्‌के नाम-गुण नहीं गाती। वह सिर सुन्दर बालों और साजोंसे सजा हुआ होनेपर भी भाररूप है जो श्रीहरिके सामने नहीं झुकता। वे हाथ मुर्देके हाथोंके समान

हैं जो सोनेके गहनोंसे सजे होनेपर भी कभी श्रीहरिकी सेवा नहीं करते। मनुष्यकी वे आँखें मोरकी पाँखोंमें दीखनेवाली आँखोंके समान वृथा हैं जो भगवान्‌की पवित्र मूर्तियोंका दर्शन नहीं करतीं। वे पैर पेड़ोंके समान व्यर्थ हैं जो भगवान्‌के पवित्र स्थानों (मन्दिरों और तीर्थों) में नहीं जाते। वह मनुष्य जीता ही मरेके समान है जो श्रीभगवान्‌की चरण-धूलिको सिरपर नहीं धारण करता या भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीकी गन्धको नहीं सूँघता। और वह हृदय तो वज्रका ही है जो श्रीहरिनामोंको सुनकर उमड़ नहीं आता, गद्गद नहीं होता, जिससे रोमाञ्च नहीं होता और नेत्रोंमें आनन्दके आँसू नहीं भर आते।'

अन्तमें मैं अत्यन्त विनम्रभावसे भगवान्‌के प्रेमी समस्त भक्तोंके चरण-कमलोंमें यही प्रार्थना करता हूँ कि आपलोग सब मिलकर मुझको कृपा-पूर्वक ऐसा आशीर्वाद दें जिससे मेरा मन-मधुकर सदा श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोंमें ही विहरण करनेवाला बन जाय। क्योंकि मनुष्यको तभीतक भय, शोक, स्पृहा, परिभव या लोभ रहता है जबतक कि वह भगवान्‌के चरणोंका आश्रय नहीं ले लेता—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः।

(श्रीमद्भा० ३।९।६)

भक्तोंके चरणरजका दासानुदास

हनुमानप्रसाद पोद्दार

देवर्षि नारद

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः ।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ६ । ३९)

'अहो ! ये देवर्षि नारदजी धन्य हैं, जो वीणा बजाते, हरिगुण गाते और मस्त होते हुए इस आतुर जगत्को आनन्दित करते फिरते हैं ।'

कारक पुरुष जगत्में वैसे ही लोककल्याणार्थ आते और विचरते हैं, जैसे स्वयं भगवान् अवतीर्ण होते हैं । श्रीभगवान्की पवित्र लीलाके लिये भूमि तैयार कर देना, उनकी लीलाके लिये वैसे ही लीलोपयोगी उपकरणोंका संग्रह करना, लीलामें सहायक होना, यह उनका स्वाभाविक कार्य होता है । ऐसे महापुरुष मुक्त होनेपर भी मुक्त न होकर जगत्में जीवोंके साथ उनके कल्याणार्थ विराजते हैं । यों तो इनका कार्य सदा ही अबाधितरूपसे चलता रहता है, परन्तु किसी खास भगवदवतारके समय इनका कार्य विशेषरूपसे बढ़ जाता है । इनका मंगलमय जीवन जगत्के महान् मंगलके लिये होता है ।

अविद्या, अहङ्कार, ममत्व, आसक्ति आदिसे सर्वथा रहित ये महापुरुष यन्त्री भगवान्‌के हाथोंमें यन्त्रवत् कार्य करते रहते हैं। इनके सारे कार्य भगवान्‌के ही कार्य होते हैं। ऐसे ही महापुरुषोंमें देवर्षि नारदजी एक हैं। सभी युगोंमें, सभी लोकोंमें, सभी शास्त्रोंमें, सभी समाजोंमें और सभी कार्योंमें नारदजीका प्रवेश है। आप सत्ययुगमें भी थे; त्रेता, द्वापरमें भी और इस घोर कलिकालमें भी, कहते हैं कि अधिकारी भक्तोंको आपके शुभ दर्शन हुआ करते हैं। गोलोक, वैकुण्ठलोक, ब्रह्मलोक आदिसे लेकर तल-अतलादि पातालतक सर्वत्र आपका प्रवेश है। और योगबलसे मन करते ही तुरंत कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाते हैं। वेद, स्मृति, पुराण, संहिता, ज्योतिष, संगीत आदि सभी शास्त्रोंमें आप दृष्टिगोचर होते हैं। साक्षात् भगवान् विष्णु, शिव आदिसे लेकर घोर राक्षसतक आपका सम्मान, विश्वास और आदर करते हैं। देवराज इन्द्र भी आपके वचनोंका आदर करते हैं और देवशत्रु हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधू भी आपकी बातपर विश्वासकर आपके आश्रममें अपनेको सुरक्षित समझती है। कहीं आप व्यास, वाल्मीकि, शुकदेव-सरीखे महापुरुषोंको परमतत्त्वका उपदेश देते दिखायी देते हैं, तो कहीं दो पक्षोंमें कलह और विवाद खड़ा कर देनेके प्रयासमें लगे दीखते हैं। वास्तवमें आप अपने लिये कुछ भी नहीं करते। जिस कार्यसे जिसका मंगल देखते हैं और भगवान्‌की लीलाका एक सुन्दर दृश्य सामने ला पाते हैं, उसी कार्यको करने लगते हैं। इनका विवाद और कलह कराना भी लोकहितार्थ और भगवान्‌की लीलाके साधनार्थ ही हुआ करता है। क्योंकि इनकी प्रत्येक चेष्टा भगवान्‌की ही चेष्टा होती है। इनको

तो वस्तुतः भगवान्‌का 'मन' ही समझना चाहिये; गम्भीर दृष्टिसे विचार करनेपर भगवत्कृपासे यह बात स्पष्ट दीखती है। कुछ लोग कहते हैं कि नारद नामके कई भिन्न-भिन्न व्यक्ति हुए हैं। उनमें वे सात मुख्य मानते हैं—१—ब्रह्माके मानस पुत्र, २—पर्वतऋषिके मामा, ३—वशिष्ठपत्नी अरुन्धतीके भाई या सत्यवतीनामक स्त्रीके स्वामी, ४—यहाँकी वहाँ करके आपसमें लोगोंको भिड़ा देनेवाले, ५—कुबेरके सभासद, ६—भगवान् श्रीरामकी सभाके आठ धर्म-शास्त्रियोंमेंसे एक और ७—जनमेजयके सर्पयज्ञके एक सदस्य।

यहाँपर हमें न तो इस विवादमें पड़ना है कि नारद एक थे या अनेक; और न विवाद करके इसका निर्णय करनेकी हममें योग्यता ही है। हाँ, हमारी दृष्टिमें तो हमें एक ही नारद दिखायी देते हैं जिन्होंने भिन्न-भिन्न कल्पों और युगोंमें भगवान्‌के यन्त्रकी हैसियतसे विभिन्न कार्य किये हैं और कर रहे हैं, यहाँ तो हमें नारदजीके उस कार्यके सम्बन्धमें कुछ कहना है जिसका सम्बन्ध भक्तिसे है। और वास्तवमें यही नारदजीका प्रधान कार्य है। समस्त शास्त्रोंके सुपण्डित तथा समस्त तत्त्वोंके ज्ञाता और व्याख्याता होकर भी अन्तमें नारदजी भगवान्‌की भक्तिका ही उपदेश करते हैं। वाल्मीकि, व्यास, शुकदेव, प्रह्लाद, ध्रुव आदि महान् महात्माओंको भगवद्भक्तिमें लगाते हैं। इतना ही नहीं, स्वयं वीणा हाथमें लेकर सभी युगों और सभी समाजोंमें निर्भय और निश्चिन्त हुए सदा-सर्वदा भगवान्‌के पवित्र नामोंका गान करते हुए सारे विश्वके नर-नारियोंको पवित्र और भगवन्मुखी करते रहते हैं। इन भगवान् श्रीनारदने अपने दो कल्पों-

के चरित्रका कुछ स्वयं वर्णन किया है। भागवतमें उक्त प्रसङ्ग बड़ा ही सुन्दर है। अपने और पाठकोंके मनोरञ्जनके लिये उसका कुछ मर्म नीचे दिया जाता है।

दिव्यदृष्टिसम्पन्न महर्षि व्यासजीने लोगोंके कल्याणके लिये वेदोंके चार विभाग किये। पञ्चम वेदरूप नानाख्यानोंसे पूर्ण महाभारतकी रचना की। पुराणोंका निर्माण किया। इस प्रकार सब प्राणियोंके कल्याणमें प्रवृत्त होनेपर भी व्यास भगवान्‌को तृप्ति नहीं हुई, उनके चित्तमें पूर्ण शान्ति न हुई, उन्हें अपने अंदर कुछ कमी-सी प्रतीत होती ही रही; तब वे कुछ उदास-से होकर सरस्वती नदीके तटपर बैठकर विचारने लगे—'मैंने सब कुछ किया, तथापि मुझे अपने अंदर कुछ अभावका-सा अनुभव क्यों हो रहा है? क्या मैंने भागवत धर्मोंका विस्तारसे निरूपण नहीं किया। क्योंकि भागवत धर्म ही परमेश्वर और परमहंस भक्तोंके प्रिय हैं।' वे इस प्रकार सोच ही रहे थे कि हरिगुण गाते प्रसन्नवदन श्रीनारदजी वहाँ आ पहुँचे। आवभगत और कुशलसमाचार पूछने-कहनेके बाद श्रीव्यासजीने अपनी स्थिति बतलाकर देवर्षिसे उसके लिये उपाय पूछा। तब श्रीनारदजी कहने लगे—

हे मुनिवर्य! आपने अपने ग्रन्थोंमें जिस प्रकार अन्यान्य धर्मोंका वर्णन किया है, उसी प्रकार भगवान्‌की कीर्तिका कीर्तन नहीं किया। इसीलिये आपके मनमें उदासी छायी है। जिस वाणीमें—जिस कवितामें जगत्‌को पवित्र करनेवाले भगवान्

श्रीवासुदेवकी महिमा और कीर्तिका वर्णन नहीं किया गया है। वह वाणी या कविता मृदु, मधुर और चित्र-विचित्र पदोंवाली (काव्यगुणसम्पन्न) होनेपर भी सारासारको जाननेवाले ज्ञानी लोग उसे 'काकतीर्थ' के नामसे पुकारते हैं अर्थात् जैसे विष्ठापर चोंच मारनेवाले कौओंके समान मलिन विषयभोगी कामी मनुष्यों-का मन उस कवितामें रमता है, वैसे मानसरोवरमें विहरण करनेवाले राजहंसोंके समान परमहंस भागवतोंका मन उसमें कभी नहीं रमता। परन्तु सुननेमें कठोर और काव्यालंकारादिसे रहित एवं पद-पदपर व्याकरणादिसे अशुद्ध होनेपर भी वह वाणी परम रम्य और जनसमूहके पापोंको नाश करनेवाली होती है जिसमें भगवान्‌के नाम और भगवान्‌के गुणोंकी चर्चा भरी होती है। अतएव उस भगवद्गुण-नामसे पूर्ण वाणीको साधु-महात्मागण सुनते हैं, सुनाते हैं और कीर्तन करते हैं। हे मुनिवर ! आप अमोघदर्शी हैं, आपसे कुछ भी छिपा नहीं है। इसलिये अब आप संसारके कल्याणके लिये श्रीहरिकी लीलाओंका वर्णन कीजिये। विद्वानोंने मनुष्यके तप, श्रवण, नित्य धर्म और तीक्ष्ण बुद्धि आदिका परम फल केवल एक-मात्र भक्तिपूर्वक श्रीहरिका गुण वर्णन करना ही बतलाया है। मेरे पूर्वजन्मका इतिहास सुनकर उसका विचार कीजिये कि श्रीहरिके गुणश्रवणसे मैं क्या-से-क्या हो गया।

हे महामुनि ! मैं पूर्वकालमें एक दासीपुत्र था। एक समय चातुर्मास्य बितानेके लिये वर्षाकालमें हमारे गाँवमें बहुत-से महात्मा पधारे। मैं छोटा बालक था। मेरी माताने मुझे उन महापुरुषोंकी

सेवामें लगा दिया। मैं उन महात्माओंके सामने किसी प्रकारका लड़कपन नहीं करता था, सब खेलोंको छोड़कर शान्तिके साथ उनके चरणोंमें बैठा रहता था और बहुत ही कम बोलता था। इन्हीं सब कारणोंसे वे महात्मा समदृष्टि होनेपर भी मुझपर प्रसन्न होकर विशेष कृपा रखने लगे। उन मुनियोंकी आज्ञासे मैं उनके पत्तोंमें बची हुई जूठन खा लेता था। इसीके प्रभावसे मेरे सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये। ऐसा करते-करते कुछ समयमें मेरा चित्त शुद्ध हो गया जिससे उनके धर्ममें (भागवत-धर्ममें) मेरी रुचि हो गयी। वहाँ वे लोग नित्य श्रीकृष्णकी कथाएँ गाते थे और मैं उन महात्माओंके अनुग्रहसे उन मनोहर कथाओंको श्रद्धाके साथ सुनता था। ऐसा करते-करते श्रीभगवान्में मेरी भक्ति हो गयी। हे महामुनि ! पहले भगवान्में मेरी रुचि हुई, फिर मेरी स्थिर दृढ़ मति हो गयी। उस विशुद्ध दृढ़ बुद्धिके प्रभावसे मैं अपने माया-रहित शुद्ध परब्रह्मरूपमें समस्त सत्-असत् प्रपञ्चको मायासे कल्पित देखने लगा। इस प्रकार वर्षा और शरद् दोनों ऋतुओं-भर वे महात्मा प्रतिदिन भगवान्के निर्मल यशका गान करते रहे, जिसके सुननेसे मेरे हृदयमें रजोगुण और तमोगुणको नाश करने-वाली सात्त्विकी भक्ति उत्पन्न हो गयी। मुझको अनुरागी, आश्रित, जितेन्द्रिय, श्रद्धालु और पापहीन बालकरूप दास समझकर दीनों-पर दया करनेवाले उन महात्माओंने गाँवसे जाते समय परम कृपा करके साक्षात् भगवान्के द्वारा कहा हुआ गुह्यतम ज्ञान मुझसे कहा, जिस ज्ञानके द्वारा मैं भगवान् वासुदेवकी मायाके प्रभावको जान

गया, जिसके जाननेसे पुरुष परमात्माके परमपदको प्राप्त होता है।*

इसके अनन्तर मुझे ज्ञानोपदेश करनेवाले महात्मा तो दूसरी जगह चले गये। मैं उनके बतलानेके अनुसार भजन करता रहा। मेरी माताके मैं ही एकमात्र पुत्र था जिससे मुझपर माताका बड़ा भारी स्नेह था। वह मुझको ही अनन्य गति समझती थी। एक दिन कालप्रेरित सर्पने मेरी स्नेहमयी माताको डस लिया, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। तब 'भक्तोंका कल्याण चाहनेवाले भगवान्ने मुझपर कृपा की' ऐसा मानकर मैं उत्तर दिशाकी ओर चल दिया

---

* प्रसिद्ध गीताके टीकाकार महात्मा श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने अपने भक्तिरसायन ग्रन्थमें देवर्षि नारदजीके इसी क्रमका अनुसरण करते हुए भक्तिकी ग्यारह भूमिकाएँ बतलायी हैं—

प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः।
श्रद्धाथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः॥
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता।
प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः॥

१–प्रथम महापुरुषोंकी सेवा, २–तदनन्तर उनकी दयापात्रता, ३–उससे इनके धर्मोंपर श्रद्धा, ४–श्रद्धासे हरिगुणका श्रवण, ५–श्रवणसे प्रेमके अङ्कुरकी उत्पत्ति, ६–प्रेमसे स्वरूपप्राप्ति, ७–उससे परानन्द-स्वरूपमें प्रेमवृद्धि, ८–प्रेमवृद्धिसे परमानन्दका स्फुरण, ९–उससे भागवत-धर्ममें निष्ठा, १०–उससे अपनेमें उन गुणोंका प्राकट्य और ११–उससे प्रेमकी पराकाष्ठा। इस प्रकार भक्तिकी भूमिकाएँ कही गयी हैं।

और वहाँ एक घने वनमें पहुँचकर नदीकिनारे एक पीपलके वृक्षकी जड़में बैठकर भगवान्का चिन्तन और चित्तको एकाग्र करके भक्तिपूर्वक भगवान्के चरण-कमलोंका ध्यान करने लगा। उस समय प्रेमावेशसे मेरी आँखोंमें आनन्दके आँसू भर आये और मैंने देखा मेरे हृदयमें भगवान् श्रीहरि प्रकट हो गये। भगवान्के दर्शन पाते ही प्रेमकी बाढ़-सी आ गयी। मेरे रोम खड़े हो गये। मैं आनन्दके समुद्रमें डूब गया और संसारसहित अपने आपको भूल गया।

सहसा भगवान्का वह मनमोहन परम सुन्दर रूप अन्तर्हित हो गया। तब मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैं पुनः दर्शनार्थ चेष्टा करने लगा, तब मैंने आकाशवाणीसे सुना कि 'हे बालक! इस जन्ममें तुझको मेरे दर्शन नहीं होंगे, प्रेम बढ़ानेके लिये मैंने एक बार तुझे दर्शन दिये हैं। अल्पकालके सत्संगके प्रतापसे तेरी मुझमें दृढ भक्ति हुई है। तू इस शरीरको छोड़कर मेरा निजजन होगा, मुझमें तेरी अचल बुद्धि होगी और मेरी कृपासे कल्पान्तमें भी तुझे इस जन्मकी बातें याद रहेंगी।' तब मैंने अपनेको भगवान्का कृपापात्र जाना और झुककर प्रणाम किया और लज्जा छोड़कर भगवान्के परम गुप्त कल्याणमय नाम और गुणोंका कीर्तन और स्मरण करता हुआ सन्तोषके साथ अहङ्कार और ईर्ष्या त्यागकर निरीह हुआ संसारमें विचरने लगा। मैंने श्रीकृष्णमें मन लगाकर संसारका संग त्याग दिया। यथासमय मेरा वह शरीर नष्ट हो गया और मुझे शुद्ध दिव्य पार्षददेहकी प्राप्ति हुई।

तदनन्तर कल्पके अन्तमें संसारको अपनेमें लीन करके प्रलयसमुद्रमें शयन करनेवाले ब्रह्माजीके हृदयमें श्वासके साथ मैंने प्रवेश किया। सहस्र युगके उपरान्त जब ब्रह्माजी जगत्की रचना करने लगे तब मरीचि आदि ऋषियोंके साथ उनके श्वाससे मैं उत्पन्न हो गया।

तबसे अखण्ड ब्रह्मचर्यका व्रत धारण करके मैं तीनों लोकोंमें बाहर-भीतर चाहे जहाँ विचरता हूँ। भगवान्की कृपासे मेरे लिये कहीं भी रुकावट नहीं है। स्वयं भगवान्की दी हुई इस स्वरमय ब्रह्मसे विभूषित वीणाको बजाकर हरिगुण गाता हुआ मैं सर्वत्र विचरता हूँ। भगवान्की मुझपर इतनी अपार कृपा है कि जब मैं प्रेमसे गद्गद होकर भगवान्की लीला गाता हूँ तभी मंगलकीर्ति पूज्यचरण भगवान् उसी क्षण प्रकट होकर मुझे ऐसे दर्शन देते हैं, जैसे कोई किसीके पुकारते ही शीघ्र आ जाता है।

जो लोग भोगोंकी इच्छासे बार-बार व्यग्रचित्त होकर संसारके विषय-भोगोंमें आसक्त हैं उनके संसारसागरसे तरनेके लिये केवल श्रीहरिचर्चा ही दृढ़ नौका है। इसीलिये मैं अपने और लोगोंके कल्याणके लिये सदा-सर्वदा हरिगुणगान करता हुआ विचरण करता हूँ। भगवान् श्रीहरिके भजनसे विषयी पुरुषोंका चित्त जितना शीघ्र शान्त होता है उतना योगादिके द्वारा नहीं होता। इतना कहकर हरिगुण गाते हुए श्रीनारदजी वहाँसे चल दिये।

महाभारतमें कहा है कि देवर्षि नारदजी समस्त वेदोंके तत्त्वज्ञ, देवताओंके पूज्य, इतिहास-पुराणोंके विशेषज्ञ, अतीत कल्पोंकी

बातोंको जाननेवाले, धर्म-तत्त्वके ज्ञाता, शिक्षा-कल्प-व्याकरणके असाधारण पण्डित, संगीतविशारद, परस्पर विरुद्ध विधिवाक्योंकी मीमांसा जाननेवाले, वाक्योंका पृथक्करण करनेमें पूर्ण योग्य, प्रभावशाली व्याख्यानदाता, मेधावी, स्मृतिमान्, नीतिशील, कवि, ज्ञानी, समस्त प्रमाणोंद्वारा वस्तुका विचार करनेमें समर्थ, बृहस्पति-जैसे विद्वानोंकी शङ्काओंका समाधान करनेवाले, धर्म-अर्थ-काम-मोक्षके तत्त्वको जाननेवाले, योगबलसे समस्त दिशाओंसे परिपूर्ण भूमण्डलके प्रत्यक्षदर्शी, मोक्षाधिकारके ज्ञाता, कल्याणके लिये विवाद खड़ा कर देनेवाले, सन्धि और विग्रहके सिद्धान्तोंके ज्ञाता, अनुमानसे ही कार्यका तत्त्व जाननेवाले, समस्त शास्त्रोंके पूर्ण पण्डित, विधिका उपदेश करनेवाले, समस्त सद्‌गुणोंके आधार और अपार तेजस्वी थे। वे ज्ञानके स्वरूप, विद्याके भण्डार, आनन्दके समूह, सदाचारके आधार, सब भूतोंके अकारण प्रेमी, विश्वके सहज ही हितकारी, भक्तिके महान् स्वरूप और आचार्य थे।

ऐसे देवर्षि नारदजीने सब कुछ उपदेश करनेके बाद 'अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः' कहकर अन्तमें भक्तितत्त्वका उपदेश किया। इससे सिद्ध होता है कि भक्तिका दर्जा बहुत ही ऊँचा है।

इस प्रकार लोगोंपर अकारण कृपाके कारण हरिगुण गाते हुए त्रिलोकीमें घूमनेवाले देवर्षि नारदजीके चरणोंमें प्रणाम कर हमलोगोंको उनके परम प्रिय भक्तिके अनुपम उपदेशोंको ध्यानसे पढ़कर तदनुसार जीवन बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये।



वन्देऽमन्दविभाविभासितभुवं राधामुकुन्दद्वयीम् ।

श्रीहरिः

प्रेम-दर्शन

(देवर्षि नारदरचित भक्तिसूत्र)

प्रेमरूपा भक्तिका स्वरूप

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

१—अब हम भक्तिकी व्याख्या करेंगे ।

इस सूत्रके 'अथ' और 'अतः' शब्दसे यह प्रतीत होता है कि भक्तिमार्गके आचार्य परम भक्तशिरोमणि, सर्वभूतहितमें रत, दयानिधि देवर्षि नारदजी अन्यान्य सिद्धान्तोंकी व्याख्या तो कर चुके; अब जीवोंके कल्याणार्थ परम कल्याणमयी भक्तिके स्वरूप और साधनोंकी व्याख्या आरम्भ करते हैं । नारदजी कहते हैं—

सा त्वस्मिन्* परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥

२—वह (भक्ति) ईश्वरके प्रति परम प्रेमरूपा है ।

भक्तिके अनेक प्रकार बतलाये गये हैं, परन्तु नारदजी जिस भक्तिकी व्याख्या करते हैं वह प्रेमस्वरूपा है । भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है । ज्ञान, कर्म आदि साधनोंके आश्रयसे रहित और सब ओरसे स्पृहाशून्य होकर चित्तवृत्ति अनन्य भावसे जब केवल भगवान्‌में ही लग जाती है; जगत्‌के समस्त पदार्थोंसे तथा परलोककी समस्त सुख-सामग्रियोंसे, यहाँतक कि मोक्ष-सुखसे भी चित्त हटकर एकमात्र अपने परम प्रेमास्पद भगवान्‌में लगा रहता है; सारी ममता और आसक्ति सब पदार्थोंसे सर्वथा निकलकर एकमात्र प्रियतम भगवान्‌के प्रति हो जाती है, तब उस स्थितिको 'अनन्य प्रेम' कहते हैं ।

अमृतस्वरूपा च ॥ ३ ॥

३—और अमृतस्वरूपा (भी) है ।

भगवान्‌में अनन्य प्रेम ही वास्तवमें अमृत है; वह सबसे अधिक मधुर है और जिसको यह प्रेमामृत मिल जाता है वह उसे पानकर अमर हो जाता है । लौकिक वासना ही मृत्यु है । अनन्य प्रेमी भक्तके हृदयमें भगवत्प्रेमकी एक नित्य नवीन, पवित्र वासनाके अतिरिक्त दूसरी कोई वासना रह ही नहीं जाती । इसी परम दुर्लभ वासनाके कारण वह भगवान्‌की मुनिमनहारिणी लीलाका एक साधन बनकर कर्म-

---

* पाठभेद "कस्मै" ।

बन्धनयुक्त जन्म-मृत्युके चक्करसे सर्वथा छूट जाता है। वह सदा भगवान्‌के समीप निवास करता है और भगवान् उसके समीप! प्रेमी भक्त और प्रेमास्पद भगवान्‌का यह नित्य अटल संयोग ही वास्तविक अमरत्व है। इसीसे भक्तजन मुक्ति न चाहकर भक्ति चाहते हैं।

अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ॥ ४ ॥

४—जिसको (परमप्रेमरूपा और अमृतरूपा भक्तिको) पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है; अमर हो जाता है (और) तृप्त हो जाता है।

जिसने भगवत्-प्रेमामृतका पान कर लिया, वही सिद्ध है, 'सिद्ध' शब्दसे यहाँ अणिमादि सिद्धियोंको प्राप्त पुरुषसे अभिप्राय नहीं है। प्रेमी भक्त इन सिद्धियोंकी तो बात ही क्या, मोक्षरूप सिद्धि भी नहीं चाहता। ये सिद्धियाँ तो ऐसे प्रेमी भक्तकी सेवाके लिये अवसर ढूँढ़ा करती हैं, परन्तु वह भगवत्प्रेमके सामने अत्यन्त तुच्छ समझकर इनको स्वीकार ही नहीं करता। स्वयं भगवान् कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'मुझमें चित्त लगाये रखनेवाले मेरे प्रेमी भक्त मुझको छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रासन, चक्रवर्ती राज्य, लोकान्तरोंका आधिपत्य, योगकी सब सिद्धियाँ और सायुज्य मोक्ष आदि कुछ भी नहीं चाहते।'

एक भक्त कहते हैं—

रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितं
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः।
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतां
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते॥

(बोधसार)

'प्रियतम श्रीकृष्णकी पूजा करते समय शरीर पुलकित हो गया, भक्तिसे मन प्रफुल्लित हो गया। प्रेमके आँसुओंने मुखको और गद्गद वाणीने कण्ठको सुशोभित कर दिया। अब तो हमें एक क्षणके लिये भी फुरसत नहीं है कि हम किसी दूसरे विषयको स्वीकार करें। इतनेपर भी सायुज्य आदि चारों प्रकारकी मुक्तियाँ न जाने क्यों हमारे दरवाजेपर खड़ी हमारी दासी बननेके लिये आतुर हो रही हैं।'

भक्त यदि भुक्ति और मुक्तिको स्वीकार कर ले तो वे अपना परम सौभाग्य मानती हैं, परन्तु भक्त ऐसा नहीं करते।

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥

(नारदपाञ्चरात्र)

'मुक्ति आदि सिद्धियाँ और अनेक प्रकारकी विलक्षण भुक्तियाँ (भोग) दासीकी भाँति हरिभक्ति महादेवीकी सेवामें लगी रहती हैं।'

काकभुशुण्डिजी महाराज कहते हैं—

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई । कोटि भाँति कोउ करै उपाई ॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई । रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥

इसलिये यहाँ सिद्धिका अर्थ 'कृतकृत्यता' लेना चाहिये । भक्तको किसी वस्तुके अभावका बोध नहीं रहता । वह प्रियतम भगवान्‌के प्रेमको पाकर सर्वथा पूर्णकाम हो जाता है । यह पूर्णकामता ही उसका अमर होना है । जबतक मनुष्य कृतकृत्य या पूर्णकाम नहीं होता, तबतक उसे बारंबार कर्मवश आना-जाना पड़ता है । पूर्णकाम भक्त सृष्टि और संहार दोनोंमें भगवान्‌की लीलाका प्रत्यक्ष अनुभव कर मृत्युको खेल समझता है । वास्तवमें उसके लिये मृत्युकी ही मृत्यु हो जाती है । प्रभु-लीलाके सिवा मृत्युसंज्ञक कोई भयावनी वस्तु उसके ज्ञानमें रह ही नहीं जाती और इसलिये वह तृप्त हो जाता है । जबतक जगत्‌के पदार्थोंकी ईश्वर-लीलासे अलग कोई सत्ता रहती है तभीतक उनको सुखद या दुःखप्रद समझकर मनुष्य निरन्तर नये-नये सुखप्रद पदार्थोंकी इच्छा करता हुआ अतृप्त रहता है । जब सबका मूल स्रोत, सबका यथार्थ पूर्ण स्वरूप उसे मिल जाता है तब उन खण्ड और अपूर्ण पदार्थोंकी ओर उसका मन ही नहीं जाता । वह पूर्णको पाकर तृप्त हो जाता है ।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥ ५ ॥

५—जिसके (प्रेमस्वरूपा भक्तिके) प्राप्त होनेपर मनुष्य न किसी भी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे (विषयभोगोंकी प्राप्तिमें) उत्साह होता है।

वह प्रेमी भक्त उस परम महान् वस्तुको पा लेता है, जिसके पानेपर सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। जगत्के प्रेम, ऐश्वर्य सौन्दर्य, बल, यश, ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त पदार्थ जिनके लिये भोगी और त्यागी सभी मनुष्य अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सदा ललचाते रहते हैं, भगवत्प्रेमरूपी दुर्लभ पदार्थके सामने अत्यन्त तुच्छ हैं। विश्वभरमें फैले हुए उपर्युक्त समस्त पदार्थोंको एक स्थानपर एकत्रित किया जाय तो भी वे सब मिलकर जिस भगवान्‌रूपी समुद्रके एक जलकणके समान ही होते हैं, वे भगवान् स्वयं जिस प्रेमके आकर्षण-से सदा खिंचे रहते हैं, उस प्रेमके सामने संसारके पदार्थ किस गिनतीमें हैं?

श्रीशुकदेव मुनि कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥

(श्रीमद्भा० ६। १२। २२)

'जो परम कल्याणके स्वामी भगवान् श्रीहरिकी भक्ति करता है वह अमृतके समुद्रमें क्रीड़ा करता है। गढ़ैयामें भरे हुए मामूली गंदे जलके सदृश किसी भी भोगमें या स्वर्गादिमें उसका मन चलायमान नहीं होता।'

प्रेमामृतसमुद्रमें डूबा हुआ भक्त क्यों अन्य पदार्थोंकी इच्छा करने लगा ?

जैसे भक्त भोग, मोक्ष आदिकी इच्छा नहीं करता; वैसे ही इनके नष्ट हो जानेका शोक भी नहीं करता । भोगोंके नाशको वह परमात्माकी लीला समझता है, इससे सदा—हर हालतमें आनन्दमें ही रहता है। परन्तु भगवत्प्रेमके सेवनमें यदि सायुज्य मोक्षके साधन-में कमी आती है तो वह उसके लिये भी शोक नहीं करता; वरं सदा यही चाहता है कि मेरा भगवत्प्रेम बढ़ता रहे, चाहे जन्म कितने ही क्यों न धारण करने पड़ें ।

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई ।
हेतुरहित अनुरागु रामपद बढ़ु अनुदिन अधिकाई ॥

इसी प्रकार वह किसी जीवसे या लौकिक दृष्टिसे प्रतिकूल माने जानेवाले पदार्थ या स्थितिसे कभी द्वेष नहीं करता । वह सब जीवोंमें अपने प्रभुको और सब पदार्थों और स्थितिमें प्रभुकी लीला-को देख-देखकर क्षण-क्षणमें आनन्दित होता है ।

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

भक्तका मन सदा प्रभु-प्रेममें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि आधे क्षणभरके लिये भी अन्य किसी पदार्थमें नहीं रमता । गोपियाँ उद्धवजीसे कहती हैं—

ऊधौ, मन न भए दस बीस ।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग, को आराधै ईस ॥

मन अपने पास रहता ही नहीं, तब वह दूसरेमें कैसे रमे ? इसीलिये तो प्रेमियोंके भगवान्‌का नाम 'मनचोर' है—

मधुकर स्याम हमारे चोर।
मन हर लियो माधुरी मूरति, निरख नयनकी कोर॥

वे प्रेमी भक्तके चित्तको ऐसी चातुरीसे चुराकर अपनी सम्पत्ति बना लेते हैं कि उसपर दूसरेकी कभी नजर भी नहीं पड़ सकती। दूसरा कोई दीखे तब न कहीं उसमें आसक्ति या प्रीति हो, परन्तु जहाँ मनमें दूसरेकी कल्पनातकको स्थान नहीं मिलता, वहाँ किसमें कैसे आसक्ति या रति हो। प्रेममयी गोपियोंने कहा है--

स्याम तन स्याम मन स्याम है हमारो धन,
आठों जाम ऊधौ हमें स्याम ही सों काम है।
स्याम हिये स्याम जिये स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥
स्याम गति स्याम मति स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाईसों भलाई सोभाधाम है।
ऊधौ तुम भए बौरे पाती लैके आए दौरे,
जोग कहाँ राखैं यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

जब एक प्रियतम श्रीकृष्णको छोड़कर दूसरेका मनमें प्रवेश ही निषिद्ध है तब दूसरे किसीकी प्राप्तिके लिये उत्साह तो हो ही कैसे? कोई किसीको देखे, सुने, उसके लिये मनमें इच्छा उत्पन्न हो, तब न उसके लिये प्रयत्न किया जाय? मन किसीमें रमे, तब न उसे पानेके लिये उत्साह हो। मन तो पहलेसे ही किसी एकका हो गया; उसने मनपर अपना पूरा अधिकार जमा लिया, और स्वयं उसमें आकर सदाके लिये बस गया। दूसरे किसीके लिये कोई गुंजाइश ही नहीं रह गयी; यदि कोई आता भी है तो उसे दूरसे ही लौट जाना पड़ता है! क्या करे जगह ही नहीं रही।

रोम रोम हरि रमि रहे, रही न तनिकौ ठौर ।

नेत्र बेचारे मनकी अनुमति बिना किसको देखें? जब कोई कहीं दीखता ही नहीं, तब उसको पानेके लिये उत्साहकी बात ही नहीं रह जाती ।

दूसरी बात यह है कि उत्साह होता है मनुष्यको किसी सुखकी इच्छासे । जब समस्त सुखोंका खजाना ही अपने पास है तब क्षुद्र सुखके लिये उत्साह कैसे हो ? इसलिये प्रेमोत्साहके पुतले भगवत्प्रेमी पुरुषोंमें लौकिक कार्योंके प्रति—विषयोंके प्रति कोई भी उत्साह नहीं देखा जाता ।

भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥
(गीता १२ । १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ, अशुभ सबका त्यागी है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ।'

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ॥ ६ ॥

६—जिसको (परम प्रेमरूपा भक्तिको) जान (प्राप्त हो) कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध (शान्त) हो जाता है, (और) आत्माराम बन जाता है ।

भगवत्-प्रेम प्रकट होते ही मनुष्यको पागल कर देता है; अतः प्रेमी भक्त सदा प्रेमके नशेमें चूर हुआ दिन-रात प्रभुके ही गुण गाता, सुनता और चिन्तन करता रहता है। बाहरकी दूसरी बातोंका उसे होश ही नहीं रहता। जैसे पागल मनमानी बकता और करता है, इसी प्रकार वह प्रेमोन्मत्त भी प्रभुकी चर्चामें ही तल्लीन रहता है; क्योंकि उसके मनको यही अच्छा लगता है। भागवतमें कहा है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

(११। २। ३९-४०)

'भक्त चक्रपाणि भगवान्‌के कल्याणकारक एवं लोकप्रसिद्ध जन्मों और कर्मोंको सुनता हुआ, उनके अनुसार रक्खे गये नामोंका लज्जा छोड़कर गान करता हुआ संसारमें अनासक्त होकर विचरता है। इस प्रकारका व्रत धारण कर वह अपने प्रियतम प्रभुके नाम-संकीर्तनसे उनमें अत्यन्त प्रेम हो जानेके कारण द्रवितचित्त

हुआ उन्मत्तके समान कभी अलौकिक भावसे खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी नाच उठता है।'

यों उन्मत्तकी तरह आचरण करता हुआ प्रेमी आनन्दमें भरकर कभी चुप हो जाता है, शान्त होकर बैठ जाता है। यह स्तब्धता उसकी पूर्णकामताका परिचय देती है। प्रभुकी मूर्ति हृदयमें प्रकट हो गयी, रूपमाधुरीमें आनन्दमत्त होकर भक्त ध्यानमग्न हो गया।

सुतीक्ष्णकी दशा बताते हुए गोसाईंजी कहते हैं—

मुनि मग माझ अचल होई बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥

नृत्य करते-करते प्रभुमय बन जानेपर ऐसी ही अवस्था हुआ करती है। उसका चित्त और शरीर सर्वथा स्तब्ध–शान्त हो जाता है। आत्मा आनन्दमय बन जाता है। इसीको आत्माराम कहते हैं। इस आत्मारामस्थितिमें विषयतृष्णा तो कहीं रह ही नहीं जाती—

न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति॥

अन्य किसीका भी ज्ञान नहीं रहता। यही प्रेमाद्वैत या रसाद्वैत है। प्रियतमके साथ मिलकर प्रेमीका पृथक् अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है।

प्रेममें अनन्यता

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ ७ ॥

७–वह (प्रेमाभक्ति) कामनायुक्त नहीं है, क्योंकि वह निरोधस्वरूपा है ।

यह प्रेमाभक्ति सर्वथा त्यागरूप है । इसमें धन, सन्तान, कीर्ति, स्वर्ग आदिकी तो बात ही क्या, मोक्षकी भी कामना नहीं रह सकती । जिस भक्तिके बदलेमें कुछ माँगा जाता है या कुछ प्राप्त होनेकी आशा या आकांक्षा है वह भक्ति कामनायुक्त है, वह स्वार्थका व्यापार है । प्रेमाभक्तिमें तो भक्त अपने प्रियतम भगवान् और उनकी सेवाको छोड़कर और कुछ चाहता ही नहीं । श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेव कहते हैं कि 'मेरे प्रेमी भक्तगण मेरी सेवा छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य (इन पाँच प्रकारकी*) मुक्तियोंको देनेपर भी नहीं लेते ।' यथार्थ भक्तिके उदय होनेपर कामनाएँ नष्ट हो ही जाती हैं । क्योंकि वह भक्ति निरोधस्वरूपा यानी त्यागमयी है । वह निरोध क्या है ?

---

* पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ ये हैं—

सालोक्य—भगवान्के समान लोकप्राप्ति ।

सार्ष्टि—भगवान्के समान ऐश्वर्यप्राप्ति ।

सामीप्य—भगवान्के समीप स्थानप्राप्ति ।

सारूप्य—भगवान्के समान स्वरूपप्राप्ति ।

सायुज्य—भगवान्में लयप्राप्ति ।

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥ ८ ॥

८—लौकिक और वैदिक (समस्त) कर्मोंके त्यागको निरोध कहते हैं ।

प्रेमाभक्तिमें यह कर्मत्याग अपने-आप ही हो जाता है । प्रेममें मतवाला भक्त अपने प्रियतम भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसी बातको जानता नहीं; उसका मन सदा श्रीकृष्णाकार बना रहता है, उसकी आँखोंके सामने सदा सर्वत्र प्रियतम भगवान्‌की छवि ही रहती है । दूसरी वस्तुमें उसका मन ही नहीं जाता । श्रीगोपियोंने भगवान्‌से कहा था--

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥

(श्रीमद्भा० १० । २९ । ३४)

'हे प्रियतम ! हमारा चित्त आनन्दसे घरके कामोंमें आसक्त हो रहा था, उसे तुमने चुरा लिया । हमारे हाथ घरके कामोंमें लगे थे, वे भी चेष्टाहीन हो गये और हमारे पैर भी तुम्हारे पाद-पद्मोंको छोड़कर एक पग भी हटना नहीं चाहते । अब हम घर कैसे जायँ और जाकर करें भी क्या ?'

जगत्‌का चित्र चित्तसे मिट जानेके कारण वह भक्त किसी भी लौकिक (स्मार्त) अथवा वैदिक (श्रौत) कार्यके करने लायक नहीं रह जाता । इससे वे सब स्वयमेव छूट जाते हैं । सुन्दरदासजी ऐसे प्रेमी भक्तकी दशाका वर्णन करते हुए कहते हैं—

न लाज तीन लोककी, न वेदको कह्यो करै।
न संक भूत-प्रेतकी, न देव-जच्छते डरै॥
सुनै न कान और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न बात और की, सुभक्ति प्रेमलच्छना॥
कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै रोवन फिर लागे।
कबहुँक गदगद कंठ, सबद निकसैं नहिं आगे॥
कबहुँक हृदै उमंग बहुत ऊँचे सुर गावै।
कबहुँक ह्वै मुख मौन गगन जैसो रहि जावै॥
चित्त बित्त हरिसों लग्यो सावधान कैसे रहै।
यह प्रेमलच्छना भक्ति है, शिष्य सुनो, 'सुन्दर' कहै॥

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ ९ ॥

९–उस प्रियतम भगवान्‌में अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनताको भी निरोध कहते हैं।

बाहरी ज्ञान बना रहनेकी स्थितिमें प्रेमी भक्त अपने प्रियतमके प्रति अनन्य भाव रखता हुआ उसके प्रतिकूल कार्योंसे सर्वथा उदासीन रहता है। इस प्रकार सावधानीसे होनेवाले कर्म भी निरोध कहलाते हैं। प्रेमी भक्तके द्वारा होनेवाली प्रत्येक चेष्टा अपने प्रियतमके अनुकूल होती है और अनन्य भावसे उसीकी सेवाके लिये होती है। प्रतिकूल चेष्टा तो उसके द्वारा वैसे ही नहीं होती जैसे सूर्यके द्वारा कहीं अँधेरा नहीं होता या अमृतके द्वारा मृत्यु नहीं हो सकती।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥ १० ॥

१०–(अपने प्रियतम भगवान्‌को छोड़कर) दूसरे आश्रयोंके त्यागका नाम अनन्यता है।

प्रेमी भक्तके मनमें अपने प्रियतम भगवान्‌के सिवा अन्य किसी-के होनेकी ही कल्पना नहीं होती, तब वह दूसरेका भजन कैसे करे? वह तो चराचर विश्वको अपने प्रियतमका शरीर जानता है, उसे कहीं दूसरा दीखता ही नहीं—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

रहीम कहते हैं कि आँखोंमें प्यारेकी मधुर छबि ऐसी समा रही है कि दूसरी किसी छबिके लिये स्थान ही नहीं रह गया—

प्रीतम-छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, आप पथिक फिरि जाय॥

गोपियोंकी सर्वत्र श्याममयी चित्तवृत्तिका वर्णन करते हुए श्रीदेवकविने कहा है—

औचक अगाध सिंधु स्याहीकौ उमड़ि आयो,
तामें तीनों लोक बूड़ि गये एक संगमें।
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागद सु
न्यारे करि बाँचे कौन जाँचे चितभंगमें॥
आँखिनमें तिमिर अमावसकी रैन जिमि,
जंबूनद-बुंद जमुना-जल-तरंगमें।
यों ही मन मेरो मेरे कामकौ न रह्यो माई,
स्याम रँग ह्वै करि समानो स्याम रंगमें॥

यदि कोई उससे दूसरेकी बात कहता है तो वह उसे सुनना ही नहीं चाहता या उसे सुनायी ही नहीं पड़ती। यदि कहीं जबरदस्ती सुननी पड़ती भी है तो उसका मन उधर आकर्षित होता ही नहीं। शिवजीकी अनन्योपासिका पार्वतीजीको सप्तर्षियोंने महादेवजी-

के अनेक दोष बतलाकर उनसे मन हटाने और सर्वसद्गुणसम्पन्न भगवान् विष्णुमें मन लगानेको कहा, तब शिवप्रेमकी मूर्ति भगवतीने उत्तर दिया—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

इसी तरह गोपियोंने भी उद्धवजीसे कहा था—

ऊधौ! मन मानेकी बात।
दाख छोहारा छाड़ि अमृतफल बिषकीरा बिष खात॥
जो चकोरको दै कपूर कोउ तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठमें बँधत कमलके पात॥
ज्यों पतंग हित जान आपनो, दीपकसों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों, ताको सोइ सुहात॥

इस प्रकार प्रेमी भक्त एकमात्र अपने प्रियतम भगवान्‌को ही जानकर, उसीको सर्वस्व मानकर, जैसे मछलीको केवल जलका आश्रय होता है वैसे ही केवल भगवान्‌का ही आश्रय लेकर, सारी चेष्टाएँ उसीके लिये करता है।

एक भरोसो एक बल, एक आस बिसवास।
एक राम घनस्याम हित चातक 'तुलसीदास'॥

वह चातककी टेककी भाँति केवल भगवान्‌में ही चित्त लगाये, सम्पूर्णरूपसे उसीपर निर्भर करता हुआ, उसीके लिये शरीर धारण करता है। उसका खाना-पीना, सोना-बैठना, चलना-फिरना, देना-लेना, दान-पुण्य करना, सब कुछ उसीके लिये होता है। अतएव उसके समस्त कर्म भगवान्‌के प्रति अनन्य प्रेमभावसे सम्पन्न होनेके कारण स्वाभाविक ही कल्याणमय होते हैं।

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥ ११ ॥

११—लौकिक और वैदिक कर्मोंमें भगवान्‌के अनुकूल कर्म करना ही उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनता है ।

अनन्यभावसे भगवदर्थ कर्म करनेवालेके लिये भगवान्‌के प्रतिकूल कर्मोंका अपने-आप ही त्याग हो जाता है । वैदिक या लौकिक (श्रौत या स्मार्त), कोई भी ऐसा कर्म वह नहीं कर सकता जो भगवान्‌के अनुकूल न हो, यानी जिससे प्रेमाभक्तिकी वृद्धिमें सहायता न पहुँचती हो ।

पुत्रके लिये माता-पिताकी, स्त्रीके लिये स्वामीकी और शिष्यके लिये गुरुकी आज्ञा मानना वेद और लोक-धर्मके अनुसार सर्वथा कर्तव्य है; परन्तु उनकी आज्ञा भी यदि भगवत्प्रेमसे विरुद्ध है तो प्रेमी भक्त कष्ट सहकर भी उसका त्याग कर देता है, क्योंकि उसके द्वारा अपने प्यारेके प्रतिकूल आचरण होना असम्भव है ।

गोस्वामीजी महाराजने उदाहरण देते हुए कहा है—

> जाके प्रिय न राम बैदेही ।
> तजिये ताहि कोटि बैरीसम जद्यपि परमसनेही ॥
> पिता तज्यो प्रहलाद, बिभीषन बंधु भरत महतारी ।
> बलि गुर तज्यो, कंत ब्रजबनितनि, भए जग मंगलकारी ॥

प्रह्लादने भगवान्‌के प्रतिकूल पिताकी आज्ञा नहीं मानी, विभीषणने भाईका साथ छोड़ दिया, भरतजी माताकी आज्ञाको टाल गये, राजा बलिने गुरु शुक्राचार्यकी बात नहीं सुनी और

व्रजवनिताओंने पतियोंकी आज्ञापर ध्यान नहीं दिया, और ये सभी जगत्‌के लिये कल्याणकारी हुए ।

कर्म चार प्रकारके होते हैं——नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध । इनमें मद्य-मांस-सेवन, चोरी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो सभीके लिये त्याज्य हैं । शास्त्रीय काम्य (सकाम) कर्म बन्धनकारक तथा जन्म-मृत्युके चक्रमें डालनेवाले होनेके कारण 'काम्यानां कर्मणां न्यासम्' इस भगवद्-वचनानुसार त्याज्य हैं । रहे नित्य और नैमित्तिक कर्म, इनको लौकिक और वैदिक विधिके अनुसार फलासक्ति छोड़कर केवल भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवत्प्रीत्यर्थ करना चाहिये । भगवत्-प्रीत्यर्थ वही कर्म होते हैं जो भगवान्‌के प्रति प्रेम बढ़ानेवाले हों । गीताके अनुसार आसक्ति और फलाशा छोड़कर मन, वाणी और शरीरसे भगवान्‌के अनुकूल कर्म करना और प्रतिकूल कर्मोंका त्याग करना ही विरोधी कर्मोंमें उदासीनता है । प्रेमाभक्तिकी उन्मादमयी स्थिति प्राप्त न होनेतक ऐसे भगवदनुकूल कर्म प्रेमी भक्तके द्वारा स्वाभाविक हुआ ही करते हैं ।

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ १२॥

१२–(विधिनिषेधसे अतीत अलौकिक प्रेमप्राप्ति करनेका मनमें) दृढ़ निश्चय हो जानेके बाद भी शास्त्रकी रक्षा करनी चाहिये । अर्थात् भगवदनुकूल शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये ।

प्रेमकी बाह्यज्ञानशून्य, विधि-निषेधसे अतीत सिद्धावस्थामें लौकिक और वैदिक कर्मोंका त्याग अपने-आप ही हो जाता है, जान-बूझकर किया नहीं जाता ।

इसलिये जबतक प्रेमकी वैसी, सब कुछ भुला देनेवाली स्थिति प्राप्त न हो जाय तबतक प्रेमके नामपर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। शास्त्रके अनुसार भगवान्‌के अर्पणबुद्धिसे भगवदनुकूल नित्य-नैमित्तिक कर्म और श्रवण-कीर्तनादिरूप भजन करते-करते ही भगवान्‌का वह परमोच्च प्रेम प्राप्त होता है। भगवान् स्वयं आज्ञा करते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

अतः तुम्हारे लिये क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, यह जानकर तुम्हें शास्त्रविधिके अनुसार ही कर्म करना चाहिये।

अन्यथा पातित्याशङ्कया ॥१३॥

१३—नहीं तो गिर जानेकी सम्भावना है।

जो मनुष्य जान-बूझकर शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन न करके शास्त्रके प्रतिकूल, अमर्यादित कार्य करता है और उसे प्रेमका नाम देकर दोषमुक्त होना चाहता है, वह अवश्य ही गिर जाता है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

'जो मनुष्य शास्त्रकी विधिको छोड़कर मनमाना स्वेच्छाचार करता है वह न सिद्धि पाता है, न परमगति पाता है और न उसे सुखकी ही प्राप्ति होती है।' जान-बूझकर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करना प्रेमका आदर्श

नहीं है, मोह है, उच्छृङ्खलता और स्वेच्छाचार है। ऐसा करनेवाला परिणाममें आसुरी योनि, नरक और दुःखोंको ही प्राप्त होता है।

लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वा-शरीरधारणावधि ॥ १४ ॥

१४—लौकिक कर्मोंको भी तबतक (बाह्यज्ञान रहनेतक विधिपूर्वक करना चाहिये।) पर भोजनादि कार्य जबतक शरीर रहेगा तबतक होते रहेंगे।

वैदिक कर्मके साथ ही लौकिक जीविका, गृहस्थ-पालन आदिके कार्य भी सावधानीके साथ भगवदनुकूल विधिके अनुसार करने चाहिये। अवश्य ही एक ऐसी बाह्यज्ञानशून्य सिद्धावस्था* होती है जिसमें वैदिक, लौकिक कार्य अनायास ही छूट जाते हैं; परन्तु उस स्थितिके प्राप्त होनेतक दोनों प्रकारके कर्म विधिवत् अवश्य करने चाहिये। वैसी विधिनिषेधातीत फलस्वरूपा स्थितिमें तो वे आप ही छूट जायँगे। परन्तु आहारादि कर्म उस अवस्थामें भी रहेंगे। कारण, वे शरीरके लिये आवश्यक हैं। यद्यपि प्रेमके नशेमें चूर भक्त आहारादिके लिये कोई चेष्टा नहीं करता, परन्तु योगक्षेमवहनकारी भगवान्‌के विधानसे उसे आहारकी प्राप्ति होती रहती है। अवश्य ही वह भगवत्प्रसाद ही होता है।

---

* बाह्यज्ञानशून्य सिद्धावस्थासे यहाँ 'भावसमाधि' नहीं समझनी चाहिये। यह प्रेमकी वह पूर्णतम सफल स्थिति है जिसमें प्रेममय भगवान्‌को छोड़कर 'बाह्य' और कुछ रहता ही नहीं। भगवान्‌के अतिरिक्त 'बाह्य' का ज्ञान सम्पूर्णतया निःशेष हो जानेपर ही यह विधिनिषेधातीत फलस्वरूपा स्थिति प्राप्त होती है।

प्रेमरूपा भक्तिके लक्षण और उदाहरण

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ॥ १५ ॥

१५–अब नाना मतोंके अनुसार उस भक्तिके लक्षण बताये जाते हैं ।

विभिन्न आचार्योंने भक्तिका स्वरूप भिन्न-भिन्न रूपसे बतलाया है, पहले उनका वर्णन करके फिर देवर्षि नारदजी अपना मत दिखलाना चाहते हैं ।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ १६ ॥

१६–पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्‌की पूजा आदिमें अनुराग होना भक्ति है ।

अपने तन, मन, धनको भगवान्‌की पूजन-सामग्री समझना और परम श्रद्धापूर्वक यथाविधि तीनोंके द्वारा भगवान्‌की प्रतिमाकी अथवा विश्वरूप भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये । भगवत्-पूजामें मन लगनेसे संसारके बन्धनकारक विषयोंसे मन अपने-आप ही हट जाता है । बाह्य और मानस दोनों ही प्रकारसे भगवान्‌की पूजा होनी चाहिये । भगवत्‌की पूजासे भगवान्‌का परमपद प्राप्त होता है—

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि ।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम् ॥

(विष्णुरहस्य)

'इस धरातलमें जो लोग भगवान्‌की पूजा करते हैं वे सनातन आनन्दमय परमपदको प्राप्त होते हैं ।'

कथादिष्विति गर्गः ॥ १७ ॥

१७—श्रीगर्गाचार्यके मतसे भगवान्‌की कथा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है।

श्रीभगवान्‌की दिव्य लीला, महिमा, उनके गुण और नामोंके कीर्तन तथा श्रवणमें मन लगाना निःसन्देह भक्तिका प्रधान लक्षण है। संसारमें अधिकांश मनुष्य तो ऐसे हैं, जिन्हें भगवान् और भगवान्‌की कथासे कोई मतलब ही नहीं है। दिन-रात विषय-चर्चामें ही उनका जीवन बीतता है। न तो वे कभी भगवान्‌का गुणगान करते हैं और न उन्हें भगवच्चर्चा सुहाती है। 'श्रवन न रामकथा अनुरागी।' इस अवस्थामें जिन मनुष्योंका मन भगवान्‌के गुणानुवाद सुनने और कहनेमें लगा रहता है वे अवश्य ही भक्त हैं। सूत्रकार आचार्य श्रीनारदजीने स्वयं महर्षि वेदव्याससे कहा है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥

(श्रीमद्भा० १।५।२२)

'विद्वानोंने यही निरूपित किया है कि भगवान्‌का गुणानुवाद-कीर्तन ही तप, वेदाध्ययन, भलीभाँति किये हुए यज्ञ, मन्त्र, ज्ञान और दान आदि सबका अविनाशी फल है।' श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

राम कथा सुंदर करतारी। संसय बिहग उड़ावनिहारी ॥
भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ता कहँ दृढ़ नावा ॥

अतएव श्रीहरिकथामें यथार्थ अनुराग होना भक्ति है और इस भक्तिसे भगवान्‌की प्राप्ति निश्चय ही हो जाती है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ १८ ॥

१८—शाण्डिल्य ऋषिके मतमें आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना ही भक्ति है ।

अविच्छिन्नरूपसे शुद्ध आत्मस्वरूपमें रत रहना ही आत्मरति है; इस आत्मरतिमें नित्य स्थित रहनेको ही अव्यक्तोपासक महानुभाव भक्ति कहते हैं । श्रीशङ्कराचार्यजीने कहा है—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥

आत्मरूपसे प्रत्येक प्राणीमें श्रीभगवान् ही विराजमान हैं, अतः उन सर्वात्मामें रति होना वस्तुतः भगवान्‌की भक्ति ही है । और ऐसी भक्ति करनेवालेको मुक्ति प्राप्त होनेमें कोई सन्देह नहीं ।

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ १९ ॥

१९—परन्तु देवर्षि नारदके मतसे अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है ।

नारदजीको महर्षि व्यास, गर्ग और शाण्डिल्यकथित भक्तिके लक्षणोंसे कोई विरोध नहीं है । भगवान्‌की पूजा करना, भगवान्‌के गुणगान करना और सर्वात्मरूप भगवान्‌में प्रेम करना उचित और आवश्यक है । व्यासजीको तो भगवद्गुणगानमें श्रीनारदने ही लगाया था । अतः इन लक्षणोंका खण्डन करने या इन्हें तुच्छ बतलानेके लिये नहीं, परन्तु इन्हींको और भी पुष्ट करनेके लिये

नारदजी इन सभी लक्षणोंसे युक्त एक सर्वाङ्गपूर्ण भक्तिका लक्षण निर्देश करते हुए कहते हैं कि अपने समस्त कर्म, (वैदिक और लौकिक) भगवान्‌में अर्पण करके प्रियतम भगवान्‌का अखण्ड स्मरण करना और पलभरके लिये भी उनका यदि विस्मरण हो जाय (प्रियतमको भूला जाय) तो परम व्याकुल हो जाना, यही सर्वलक्षण-सम्पन्न भक्ति है। इसमें पूजा-कथामें अनुराग और विश्वात्मा भगवान्‌में रति तो रहती ही है। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें सब प्रकारके योगियोंमें इन्हीं लक्षणोंसे युक्त भक्तियोगीको सर्वोत्तम बतलाया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६ । ४६-४७)

'तपस्वियोंसे, शास्त्रज्ञानियोंसे और सकाम कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; अतएव हे अर्जुन ! तू योगी बन। परन्तु सम्पूर्ण योगियोंमें भी वह भक्तियोगी मेरे मतमें परम श्रेष्ठ है जो मुझमें श्रद्धावान् है और अन्तरात्माको मुझमें लगाकर निरन्तर मुझे भजता है।'

भगवान्‌ने फिर आज्ञा की है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समय(बिना विराम)मेरा स्मरण कर और (स्मरण करता हुआ ही मेरे लिये ही) युद्ध कर। इस प्रकार मुझमें ही मन-बुद्धि अर्पण करके तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

मानापमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुःख आदिकी परवा न करके, आसक्ति और फलकी इच्छा छोड़कर, शरीर और संसारमें अपने लिये अहंता-ममतासे रहित होकर, एकमात्र परम प्रियतम श्रीभगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति, परम सुहृद् समझकर अनन्यभावसे, अत्यन्त श्रद्धाके साथ, प्रेमपूर्वक निरन्तर तैलधारावत् उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते हुए परमानन्दमें मग्न रहना और इस प्रकार चिन्तनपरायण रहते हुए ही केवल उन परम प्रियतम भगवान्‌के लिये, उनकी रुचि तथा इच्छाके अनुसार, उन्हींके प्रीत्यर्थ, उन्हींको सुख पहुँचानेके दृढ़ और परम स्वार्थसे प्रेरित होकर, सर्वथा निःस्वार्थभावसे समस्त दैहिक, वाचिक और मानसिक कर्मोंका आचरण करना। यदि किसी कारणवश क्षणभरके लिये भी उनका चिन्तन-स्मरण छूट जाय तो जलसे निकाली हुई मछलीसे भी अनन्तगुणा अधिक व्याकुलताका अनुभव करना, यही सर्वोच्च भक्ति है।

ऐसा पूर्ण समर्पणकारी प्रेमी भक्त त्रैलोक्यके राज्यसुखकी तो बात ही क्या है, अपुनरावर्ती मोक्षके लिये भी, किसी भी हालतमें अपने प्रियतम भगवान्‌का स्मरण छोड़ना नहीं चाहता। भगवान् ऐसे भक्तकी प्रशंसा करते हुए भक्त उद्धवसे कहते हैं--

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्‌घ्रिरेणुभिः॥

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १५–१७)

'हे उद्धव ! इस प्रकारके तुम भक्त मुझको जैसे प्रिय हो, वैसे प्रिय ब्रह्मा, शङ्कर, बलराम, लक्ष्मी और अपनी आत्मा भी नहीं है । ऐसे किसी वस्तुकी इच्छा न रखनेवाले, शान्तचित्त, निर्वैर, सर्वत्र समभावसे मुझको देखनेवाले और निरन्तर मेरा मनन करनेवाले प्रेमी भक्तोंकी चरणरजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा-सर्वत्र उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ । मुझमें चित्तको अनुरक्त कर रखनेवाले सर्वस्व मुझको अर्पण करके अकिञ्चन बने हुए ऐसे शान्त, और मेरे नाते सब जीवोंके प्रति स्नेह करनेवाले तथा सब प्रकारकी कामनाओंसे शून्य हृदयवाले महात्मा जिस परमसुखका अनुभव करते हैं, उस निरपेक्ष परमानन्दको दूसरे लोग नहीं जानते ।' बस, श्रीनारदजीके मतसे यही भक्ति है । ऐसा भक्त समस्त आचरण श्रीभगवान्‌के अर्पण करके अनवच्छिन्नरूपसे भगवत्स्मरण करता रहता है, और कहीं तनिक भी भूल जानेपर परम व्याकुल हो जाता है ।

अस्त्येवमेवम् ॥ २० ॥

२०–ठीक ऐसा ही है ।

देवर्षि नारद पिछले सूत्रमें बतलाये हुए सिद्धान्तकी दृढ़ताके लिये कहते हैं कि वस्तुतः भक्तिका यही स्वरूप है !

यथा व्रजगोपिकानाम् ॥ २१ ॥

२१–जैसे व्रजगोपियोंकी (भक्ति)।

भक्तिका लक्षण बतलाकर अब देवर्षि उदाहरणमें प्रेमिका-शिरोमणि प्रातःस्मरणीया श्रीगोपिकाओंका नाम लेते हैं। वस्तुतः गोपियोंकी ऐसी ही महिमा है। जगत्में ऐसा कौन है जो गोपियोंके प्रेमके तत्त्वका बखान कर सके? उनका तन, मन, धन, लोक, परलोक सब श्रीकृष्णके अर्पित था। वे दिन-रात श्रीकृष्णका ही चिन्तन करतीं, गद्गद वाणीसे निरन्तर श्रीकृष्णका ही गुणगान करतीं और सर्वत्र सर्वदा श्रीकृष्णको ही देखा करती थीं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

'हे गोपिकाओ! तुमने मेरे लिये गृहस्थकी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरा भजन किया है। तुम्हारा यह कार्य सर्वथा निर्दोष है। मैं देवताओंकी आयुपर्यन्त भी तुम्हारे इस उपकारका बदला नहीं चुका सकता। तुम अपनी उदारतासे ही मुझे ऋणमुक्त करना।'

उद्धवको सँदेसा देकर भेजते समय भगवान् श्रीकृष्णने प्रेमाश्रु बहाते हुए गद्गद वाणीसे कहा था—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥
(श्रीमद्भा० १०।४६।४-६)

'हे उद्धव ! गोपियोंने अपना मन मुझको समर्पण कर दिया है, मैं ही उनके प्राण हूँ, मेरे लिये उन्होंने अपने देहके सारे व्यवहार छोड़ दिये हैं। जो लोग मेरे लिये समस्त लौकिक धर्मोंको छोड़ देते हैं, उनको मैं सुख पहुँचाता हूँ। वे गोपियाँ मुझको प्रियसे भी अति प्रिय समझती हैं, मेरे दूर रहनेपर मुझे स्मरण करके वे दारुण विरहवेदनासे व्याकुल होकर अपने देहकी सुधि भूल जाती हैं। मेरे बिना वे बड़ी ही कठिनतासे किसी प्रकार प्राण धारण कर रही हैं, मेरे पुनः व्रज जानेके सन्देशके आधारपर ही वे जी रही हैं। मैं उन गोपियोंकी आत्मा हूँ और वे मेरी हैं।'

उद्धवने व्रजमें आकर जब प्रेममयी गोपियोंकी दशा देखी, उन्हें सब ओर, बाहर-भीतर श्रीकृष्णके दर्शन करते पाया और जब उनके मुखसे सुना—

[१]

नाहिन रह्यो हियमहँ ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत, सुपन सोवत रात।
हृदयते वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥
कहत कथा अनेक ऊधौ! लोक-लाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेमपूरन, घट न सिंधु समात॥

स्याम गात सरोज आनन, ललित गति मृदुहास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

[२]

ऊधौ ! जोग जोग हम नाहीं।
अबला ग्यानसार कहा जानैं, कैसे ध्यान धराहीं॥
ते ये मूदन नैन कहत हौ, हरि मूरति जिन माहीं।
ऐसी कथा कपटकी मधुकर हमते सुनी न जाहीं॥
स्रवन चीर अरु जटा बँधावहु, ये दुख कौन समाहीं।
चंदन तजि अँग भसम बतावत, विरह अनल अति दाहीं॥
जोगी भरमत जेहि लगि भूले सो तो है हम पाहीं।
'सूरदास' सो न्यारो न पल छिन ज्यों घटते परिछाहीं॥

गोपियोंने कहा—'उद्धवजी ! योग उन्हें जाकर सिखाओ, जहाँ श्यामसुन्दरका वियोग हो। यहाँ तो देखो, सदा ही संयोग है; हमारा प्यारा श्याम सदा-सर्वदा हमारे साथ ही रहता है।' तब उद्धवकी आँखें खुलीं, वे गोपियोंके शुद्ध प्रेमके प्रबल प्रवाहमें बह गये—

सुनि गोपीके बैन नेम ऊधौके भूले।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजनमें फूले॥
खिन गोपिनके पग परै, धन्य सोइ है नेम।
धाइ धाइ द्रुम भेंट हीं, ऊधौ छाके प्रेम॥

उन्होंने भक्तिप्रणत चित्तसे कहा—

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम् ॥
आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ५८, ६०-६१)

'जगत्में इन गोपललनाओंका ही देह धारण करना सफल है, क्योंकि इनका चित्त विश्वात्मा भगवान् श्रीगोविन्दमें लगा हुआ है, जिनकी भवभयसे भीत हुए मुनिगण तथा हमलोग सभी इच्छा करते हैं। सत्य है, जो श्रीअनन्तकी लीला-कथाओंके रसिक हैं उन्हें ब्राह्मणोंके तीनों जन्मों (जन्म, यज्ञोपवीत और यज्ञदीक्षा) की क्या आवश्यकता है ? रासलीलाके समय भगवान् श्रीहरिके भुजदण्डको कण्ठहार बनाकर पूर्णकाम हुई इन व्रजबालाओंको श्रीहरिका जो प्रसाद प्राप्त हुआ है, वैसा निरन्तर हृदयमें रहनेवाली श्रीलक्ष्मीजी और कमलकी-सी कान्ति और सुगन्धिसे युक्त सुरसुन्दरियोंको भी नहीं मिला; फिर औरोंकी तो बात ही क्या है ? इन महाभागा गोपियोंने कठिनतासे छोड़े जा सकनेवाले बन्धुओंको और आर्यधर्मको त्यागकर श्रुति जिसकी खोज करती है, उस मुकुन्दपदवीका अनुसरण किया है। अहो ! क्या ही उत्तम हो, यदि मैं आगामी जन्ममें इस वृन्दावनकी लता, ओषधि या झाड़ियोंमेंसे कोई होऊँ,

जिनपर इन गोपियोंकी चरणधूलि पड़ती है ।' मथुराकी कुलाङ्गनाओंने गोपियोंकी दशाका वर्णन करके उनके जीवनको धन्य बताते हुए कहा है——

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ४४ । १५)

'जो गोपियाँ गायोंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें छिड़काव करते तथा झाड़ू देते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे, आँखोंमें आँसूभरे, गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके गुणगान किया करती हैं, उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है !'

इन गोपियोंकी जितनी महिमा गायी जाय, उतनी ही थोड़ी है । सर्वत्यागी व्रजवासी भक्तोंने तो गोपीपदपङ्कजपराग ही बनना चाहा है । सत्य ही कहा है—

गोपी प्रेमकी धुजा ।
जिन घनस्याम किये बस अपने उरधरि स्यामभुजा ॥

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव-सदृश महान् त्यागी महापुरुषोंने तो गोपियोंको प्रेममार्गका गुरु माना है । महान् भक्त श्रीनागरीदासजी कहते हैं——

जयति ललितादि देवीय व्रज श्रुतिरिचा,
कृष्ण प्रिय केलि आधीर अंगी।
जुगल-रस-मत्त आनंदमय रूपनिधि,
सकल सुख समयकी छाँह संगी॥
गौरमुख हिमकरनकी जु किरनावली,
स्त्रवत मधु गान हिय पिय तरंगी।
'नागरी' सकल संकेत आकारिनी,
गनत गुनगननि मति होति पंगी॥

एक व्रजभक्तने कहा है—

ये हरिरस ओपी गोपी सब तियतें न्यारी।
कमलनयन गोविंदचंदकी प्रानपियारी॥
निरमत्सर जे संत तिनहिं चूड़ामनि गोपी।
निरमल प्रेम प्रबाह सकल मरजादा लोपी॥
जे ऐसे मरजाद मेटि मोहन गुन गावें।
क्यों नहिं परमानन्द प्रेमभगती सुख पावें॥

गोपियोंकी महिमा तभी कुछ समझमें आ सकती है, जब साधक विषयोंसे परम वैराग्य धारण कर प्रेमपथपर कुछ अग्रसर होता है।

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥२२॥

२२—इस अवस्थामें भी (गोपियोंमें) माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका अपवाद नहीं।

अर्थात् गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके प्रभाव, रहस्य और गुणोंको जानती थीं। कुछ लोगोंका कहना है कि प्रेममें माहात्म्य-ज्ञान नहीं रहता, माहात्म्यज्ञान होगा तो प्रेम नहीं रहेगा, परन्तु गोपियोंमें ऐसी बात नहीं थी। गोपियाँ श्रीकृष्णको साक्षात् पुरुषोत्तम

भगवान् जानती हुई अपना प्रियतम समझती थीं। लौकिक प्रेम और भगवत्प्रेममें यही खास भेद है। भगवत्प्रेममें वस्तुतः ऐसा ही होता है। जो लोग कहते हैं कि गोपियाँ श्रीकृष्णको भगवान् नहीं जानती थीं, वे श्रीमद्भागवतके नीचे लिखे श्लोकोंका मनन करें—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः॥
श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥
(१०। २९। ३१-३२, ३६-३७)

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता॥
(१०। २९। ४१)

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥
(१० । ३१ । ४)

'हे विभो ! आप ऐसे कठोर शब्द (वापस जानेकी बात) न कहिये । हमने अन्य सम्पूर्ण विषयोंको छोड़कर एकमात्र आपके ही चरणकमलोंका आश्रय लिया है । हे स्वच्छन्द ! जिस प्रकार आदिपुरुष श्रीनारायण मुमुक्षुओंको भजते हैं, (उनके इच्छानुसार उन्हें स्वीकार करते हैं) उसी प्रकार आप हमें अङ्गीकार कीजिये, त्यागिये नहीं । हे हरि ! आप धर्मको जाननेवाले हैं (फिर आप कैसे कहते हैं कि तुमलोग लौट जाओ, आपकी शरण आनेपर भी क्या कोई कभी वापस लौटता है ?) आपने जो कहा कि पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका परम धर्म है सो यह उपदेश उपदेशके स्थान आप ईश्वरके विषयमें ही रहे; क्योंकि समस्त देहधारियोंके प्रियतम बन्धु और आत्मा तो आप ही हैं । हे कमललोचन ! जिस समय श्रीलक्ष्मीजीको (श्रीविष्णुरूपमें) कभी-कभी आनन्दित करनेवाले आपके चरणकमलोंको हमने स्पर्श किया था और वनवासी तपस्वियोंके प्रिय आपने हमें आनन्दित किया था तभीसे हमारे लिये अन्यत्र कहीं ठहरना असम्भव हो गया है । जिनकी कृपादृष्टि पानेके लिये देवगण अत्यन्त प्रयास करते हैं, वे लक्ष्मीजी बिना किसी प्रतिद्वन्द्वीके आपके वक्षःस्थलमें स्थान

पाकर भी तुलसीजीके सहित अन्य भक्तोंसे सेवित आपकी चरण-रजकी इच्छा करती हैं, हम भी निःसन्देह आपकी उसी चरणरजकी ही शरणमें आयी हैं, क्योंकि देवताओंकी रक्षा करनेवाले आप आदिपुरुष परमात्मा ही व्रजमण्डलका भय और दुःख दूर करनेके लिये प्रकट होकर अवतीर्ण हुए हैं। यह निश्चय है कि आप केवल यशोदाके ही पुत्र नहीं हैं वरं समस्त देहधारियोंके अन्तरात्माके साक्षी हैं। हे सखे! ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे ही आपने सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करनेके लिये यदुकुलमें अवतार लिया है।'

ऐसे अनेकों प्रमाणोंसे तथा युक्तियोंसे यह सर्वथा सिद्ध है कि गोपियोंने श्रीकृष्णको साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् समझकर ही उन्हें आत्मसमर्पण किया था।

तद्विहीनं जाराणामिव ॥ २३ ॥

२३—उसके बिना (भगवान्‌को भगवान् जाने बिना किया जानेवाला ऐसा प्रेम) जारोंके (प्रेमके) समान है।

माहात्म्यज्ञान बिना स्त्रियोंके द्वारा किसी पुरुषके प्रति किया जानेवाला ऐसा प्रेम जारोंका-सा प्रेम होता है। जिस प्रेममें सर्वार्पण है, जिसमें लौकिक स्वार्थकी तनिक-सी गन्ध भी नहीं है, ऐसा प्रेम केवल भगवान्‌के प्रति ही हो सकता है। यद्यपि जाने-अनजाने किसी प्रकार भी भगवान्‌के प्रति किया हुआ प्रेम निष्फल नहीं होता, परन्तु जानकर होनेवाले प्रेममें विशेषता होती है। भगवान् हमारे प्रियतम हैं, इस कल्पनामें ही कितना अपार आनन्द

है। फिर जिनको वे भगवान् परम प्रियतमरूपमें प्राप्त हो जायँ उनके सुखका तो कहना ही क्या है? गोपियाँ इसी परम पवित्र दिव्य सुखकी भागिनी थीं। इसीसे जीवन्मुक्त महात्मा शुकदेव मुनिने मृत्युके लिये तैयार हुए राजा परीक्षित्को यह पवित्र प्रेमलीला सुनायी थी। अतएव यह प्रेम भगवत्-माहात्म्यके ज्ञानसे युक्त परम पवित्र था।

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥ २४ ॥

२४—उसमें (जारके प्रेममें) प्रियतमके सुखसे सुखी होना नहीं है।

व्यभिचारी मनुष्य कामवश होकर केवल अपने सुखके लिये, अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये प्रीति किया करते हैं; वे अपने प्रेमास्पदके सुखसे सुखी नहीं होते। गोपियोंके प्रेममें यह भाव नहीं था। लौकिक कामजनित प्रीतिमें प्रेमास्पद पुरुष जार होता है और उसके अंग-संगकी इच्छा होती है। यहाँ प्रेमास्पद साक्षात् विश्वात्मा भगवान् थे और गोपियोंके मनोंमें अंग-संगकी कामना नहीं थी। गोपियाँ केवल श्रीकृष्ण-सुखकी अभिलाषिणी थीं। उन्होंने अपना तन, मन, बुद्धि, रूप, यौवन, धन, प्राण आदि सम्पूर्ण वस्तुओंको प्रियतम श्रीकृष्णकी पूजनसामग्री बना दिया था। अपना सर्वस्व देकर वे श्रीकृष्णको सुख पहुँचाना चाहती थीं। जिस बातमें श्रीकृष्णकी प्रसन्नता होती, वही करना उनका धर्म था। उसीमें उन्हें परम सुखकी अनुभूति होती थी। इसके अतिरिक्त उनके मनमें अन्य प्रकारसे होनेवाले सुखकी कामना तो दूर रही,

कल्पना भी नहीं थी। यही तो काम और प्रेमका अन्तर है। काम चाहता है दूसरेके द्वारा अपने सुखी होना, और प्रेम चाहता है अपने द्वारा प्रियतमको सुखी करना और उसे सुखी देखकर ही सुखी होना। श्रीचैतन्यचरितामृतमें गोपियोंके प्रेमका वर्णन करते हुए बहुत ही ठीक कहा गया है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति-इच्छा, तार नाम काम। कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल। कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥
आत्म-सुख-दुख गोपी ना करे विचार। कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार॥
लोकधर्म, वेदधर्म देहधर्म कर्म। लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख मर्म॥
सर्व त्याग करये करे कृष्णेर भजन। कृष्ण सुख हेतु करे प्रेमेर सेवन॥
इहाके कहिये कृष्णे दृढ़ अनुराग। स्वच्छ धौत वस्त्र जैसे नाहि कोन दाग॥
अतएव काम प्रेमे बहुत अंतर। काम अंधतम प्रेम निर्मल भास्कर॥
अतएव गोपीगणे नाहि कामगंध! कृष्णसुख हेतु मात्र कृष्णेर संबंध॥

भगवान् श्रीकृष्णको सर्वस्व अर्पण, पलभरके लिये भूल जानेमें परम व्याकुलता, श्रीकृष्णके प्रभाव और माहात्म्यका सम्यक् ज्ञान और श्रीकृष्णके सुखमें ही सुखी होना, यही चार बातें गोपी-प्रेममें मुख्य हैं।

यह गोपी-प्रेम परम पवित्र और अलौकिक है। इसमें जो पाप या व्यभिचार देखते हैं, उनपर श्रीकृष्ण दया करें।

प्रेमरूपा भक्ति फलरूपा है

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥२५॥

२५–वह (प्रेमरूपा भक्ति) तो कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है ।

कर्म, ज्ञान और योग तीनों ही भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, परन्तु भक्ति इन तीनोंमें सबसे श्रेष्ठ है । उनमें वर्ण, आश्रम, अधिकार आदिका विचार है; साथ ही गिरनेका भय भी है परन्तु सच्ची भक्तिमें भगवान्‌की पूरी सहायता रहनेके कारण कोई भी भय नहीं है । तथा इसमें स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र आदि सभीका अधिकार है । गोसाईं तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जे असि भगति जानि परिहरहीं । केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं ॥
ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी । खोजत आकु फिरहिं पय लागी ॥
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई । जे सुख चाहहिं आन उपाई ॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी । पैरि पार चाहहिं जड़ करनी ॥

उमा जोग जप दान तप नाना ब्रत मख नेम ।
राम कृपा नहिं करहिं तस जस निस्केवल प्रेम ॥
पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन ।
यह बिचारि मुनि पुनि-पुनि करत राम-गुन-गान ॥

स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २०-२१)

'जिस प्रकार मेरी दृढ़भक्ति मुझे वश करती है, उस प्रकार मुझको योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग वशमें नहीं कर सकते । संतोंका प्रिय आत्मारूप मैं केवल श्रद्धायुक्त भक्तिके द्वारा वशमें हो सकता हूँ, मेरी भक्ति चाण्डाल आदिको भी पवित्रहृदय बनानेमें समर्थ है।'

इसी प्रकार श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११ । ५३-५४)

'हे अर्जुन ! जैसा तुमने मुझको देखा है, ऐसा वेद, तप, दान, यज्ञ आदिसे मैं नहीं देखनेमें आता । हे परन्तप अर्जुन ! अनन्यभक्तिके द्वारा ही इस प्रकार मेरा देखा जाना, मुझे तत्त्वसे जानना और मुझमें प्रवेश पाना सम्भव है।'

फलरूपत्वात् ॥२६॥

२६—क्योंकि (वह भक्ति) फलरूपा है।

वस्तुतः यह भक्ति फलरूपा है, साधन नहीं है। जो भक्ति ज्ञानका साधन मानी जाती है वह गौणी भक्ति साधारण उपासना है, प्रेमरूपा भक्ति नहीं है। प्रेमरूपा भक्ति तो समस्त साधनोंका फल है।

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥
भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥
जहँलगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च ॥२७॥

२७—ईश्वरको भी अभिमानसे द्वेषभाव है और दैन्यसे प्रियभाव है।

कर्म, ज्ञान और योगके साधकोंको अपने बलका और साधनका अभिमान हो सकता है। भगवान्‌का तो नाम ही दर्पहारी है। यद्यपि वस्तुतः भगवान्‌का न किसीमें द्वेष है, न राग है। उनके लिये सभी समान हैं। वे सभीका उद्धार करते हैं। हाँ, उद्धारके साधन भिन्न-भिन्न हैं। अभिमानीका उद्धार उसे दण्ड देकर करते हैं और दीन सेवकका उसे प्रेमसे गले लगाकर। इसीसे भगवान्‌के क्रोधको भी वरके तुल्य वतलाया गया है। अभिमानीके प्रति भगवान् द्वेषीकी-सी लीला करते हैं और दीनके साथ प्रेमीकी-सी। इसीसे दीनबन्धु, अशरण-शरण

और 'कंगालके धन' आदि उनके नाम हैं। यथार्थमें तो अभिमानीके प्रति भी उनके हृदयमें प्रेम ही होता है, इसीलिये तो वे उसका अभिमान नष्ट करते हैं।

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

इतना होनेपर भी दण्डमें द्वेष दीखता ही है, परन्तु दीन अमानी गरीबको तो आप हृदयसे लगा लेते हैं। उसका छोटे-से-छोटा काम करनेमें भी नहीं सकुचाते। भक्तजन तो स्वाभाविक ही अपनेको किङ्कर समझते हैं, वे कहते हैं—

सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वथा।
पापपीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम॥

'हे प्रभो! मुझ समस्त साधनोंसे हीन, मायाके सर्वथा पराधीन हुए पापोंसे लदे हुए दीनकी तो केवल तुम ही गति हो।'

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतितपावन जग, केहि अति दीन पियारे॥

यह दीनता उस अभावकी स्थितिका नाम नहीं है जिसमें मनुष्य धन, मान, वैभव आदिके अभावसे ग्रस्त होकर उनकी प्राप्तिके लिये व्याकुल रहा करता है। यह दीनता तो उस निरभिमानता और अहङ्कारशून्यताका नाम है जो बड़े-से-बड़े वैभवशाली सम्राट्को भी भगवत्कृपासे प्राप्त हो सकती है। इस दीनताका अर्थ है अभिमान और कर्तृत्व-अहङ्कारका नाश हो

जाना। यह समझना कि मैं और मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है सो सब भगवान् है और सब भगवान्का है, सब कुछ उन्हींकी शक्ति और प्रेरणासे होता है, करने-करानेवाले वे ही हैं।

परन्तु भगवान्की प्यारी यह सच्ची दीनता सहज ही नहीं प्राप्त होती। अभिमानका सारा भूत उतरे बिना दीनता नहीं आती। वर्ण, जाति, धन, मान, विद्या, साधन, स्वास्थ्य आदिका अभिमान और कर्तापनका अहङ्कार मनुष्यमें ऐसी दीनता उत्पन्न नहीं होने देता; ऊपरसे मनुष्य दम्भपूर्वक दीन बनता है, भगवान्के सामने अपनेको दीन कहता है, रोनेका स्वाँग भरता है परन्तु उसकी दीनताकी परीक्षा तो तभी होती है, जब बड़े-से-बड़े सांसारिक पदार्थों और साधनोंकी प्राप्तिमें भी स्वाभाविक दीनता ज्यों-की-त्यों बनी रहे। जो सब लोगोंके सामने अपनेसे हीन स्थितिके दूसरे मनुष्योंद्वारा दीन और पापी कहा जाना केवल सह ही नहीं लेता, वरं उसे सत्य समझकर प्रसन्न होता है और प्रभु-प्राप्तिके लिये सदैव जिसका चित्त खिन्न रहा करता है, ऐसे ही खिन्न—दीन भगवान्को प्यारे होते हैं। सच्ची भक्तिमें अपने पुरुषार्थ या साधनका अभिमान आ ही नहीं सकता, इसीलिये भक्ति श्रेष्ठ है।

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ २८ ॥

२८–उसका (भक्तिका) साधन ज्ञान ही है, किन्हीं (आचार्यों) का यह मत है।

यद्यपि भक्तिमें इस ज्ञानकी तो परम आवश्यकता है कि मैं जिसकी भक्ति करता हूँ वे ही सबके स्वामी, सबके आधार,

सबके महेश्वर, जगत्के उत्पन्न, पालन और संहार करनेवाले, मायाके पति, अज, अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वात्मा, निर्गुण, निर्विकार, निराकार, सगुण, साकार भगवान् हैं, उनसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं। क्योंकि इतना ज्ञान भी यदि न होगा तो श्रद्धा नहीं होगी; श्रद्धा बिना प्रीति नहीं होगी और प्रीति बिना भक्ति दृढ़ नहीं होगी।

जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

परन्तु इसमें अद्वैतज्ञानके साधनकी आवश्यकता नहीं होती। केवल श्रद्धा और भावसे ही परमात्माकी भक्ति प्राप्त हो जाती है। गृध्रराज, गजेन्द्र, ध्रुव, शबरी आदिने केवल भगवान्की ऐसी ही भक्तिसे भगवान्को प्राप्त किया था।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

२९–दूसरे (आचार्यों) का मत है कि भक्ति और ज्ञान परस्पर एक दूसरेके आश्रित हैं।

ऐसा भी होता है। गौणी भक्तिसे भगवान्के तत्त्वका ज्ञान होता है और तत्त्वके जाननेसे भगवान्में अत्यन्त प्रेम उत्पन्न होता है। परन्तु केवल भक्तिके प्रेमीजन इस मतकी परवा नहीं करते। क्योंकि वे इस बातको जानते हैं कि जब निर्मल प्रेमस्वरूपा भक्तिका पूर्ण उदय होता है तब किसीका ज्ञान अलग रह ही नहीं जाता। प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों एक हो जाते हैं। फिर किसका ज्ञान किसको होगा ?

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः* ॥ ३० ॥

३०–ब्रह्मकुमारोंके (सनत्कुमारादि और नारदके) मतसे भक्ति स्वयं फलरूपा है।

अतएव यह भक्ति ही साधन है और भक्ति ही साध्य है। मूल भी वही और फल भी वही। भक्तगण भक्तिके लिये ही भक्ति करते हैं। क्योंकि भक्ति स्वयं फलरूपा है। वह न किसी साधनसे मिलती है और न कोई उससे श्रेष्ठ वस्तु है जिसकी प्राप्तिका वह साधन हो।

सो स्वतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ ३१ ॥

३१–राजगृह और भोजनादिमें ऐसा ही देखा जाता है।

यह पूर्वकथित भक्तिकी फलरूपताको समझनेके लिये उदाहरण है।

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ ३२ ॥

३२–न उससे (जान लेनेमात्रसे) राजाकी प्रसन्नता होगी, न क्षुधा मिटेगी।

केवल राजमहलका वर्णन सुनने और जान लेनेसे काम नहीं चलता। राजा धर्मात्मा है, शक्तिशाली है, प्रजाहितैषी है, रूपगुणसम्पन्न है, यह बात भी जान ली; परन्तु इससे क्या हुआ, इस जाननेमात्रसे राजा प्रसन्न थोड़े ही हो गया। इसी प्रकार जान लिया कि हलुआ मीठा होता है, घी और शक्करसे बनता

---

* पाठभेद "ब्रह्मकुमारः"।

है, बड़ा स्वादिष्ट है; परन्तु इससे भूख तो नहीं मिटती। इसी तरह केवल शब्दज्ञानसे न तो भगवान्‌की प्रसन्नता होती है और न हमें शान्ति ही मिलती है। यद्यपि भगवान्‌के लिये सभी समान हैं, तथापि उनकी प्रसन्नता तो भक्तिसे ही मिलती है। वे स्वयं कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें सम हूँ, न कोई मेरा द्वेष्य है और न प्रिय है; परन्तु जो मुझको भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।'

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः॥ ३३॥

३३—अतएव (संसारके बन्धनसे) मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवालोंको भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिये।

भक्तिसे भवबन्धन तो अनायास कट ही जाता है, साक्षात् भगवान् उसके प्रेमास्पद बनकर उसके साथ दिव्य लीला करते हैं।

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

अन्यान्य बड़े-बड़े साधनोंसे भी सहजमें न मिलनेवाली अति दुर्लभ मुक्ति बिना ही माँगे बलात्कारसे आती है, परन्तु वह भक्त तो—

मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

मुक्तिकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। ऐसी सुलभ और सर्वोपरि स्थितिरूप भक्तिको छोड़कर दूसरे साधनको कोई क्यों करे? श्रद्धालु और बुद्धिमान् पुरुषोंको केवल भक्ति ही करनी चाहिये।

प्रेमरूपा भक्तिके साधन और सत्संगकी महिमा

तस्याःसाधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ ३४ ॥

३४–आचार्यगण उस भक्तिके साधन बतलाते हैं।

कर्म और ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करके अब देवर्षि नारद भक्तिशास्त्रके प्रधान प्रवर्त्तक और भक्ति-तत्त्वके अनुभवी आचार्यों एवं संत-भक्तोंद्वारा गान किये हुए उस श्रेष्ठतम भक्तिके साधनोंका वर्णन करते हैं।

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥ ३५ ॥

३५–वह (भक्ति-साधन) विषयत्याग और संगत्याग-से सम्पन्न होता है।

जीवके मनमें स्वाभाविक ही प्रेमका स्रोत है, क्योंकि जीव परमानन्दस्वरूप परमप्रेमरूप भगवान्‌का ही सनातन चिदंश है; परन्तु विषयोंके प्रति प्रवाहित होनेसे उसके प्रेमकी धारा दूषित हो गयी है और इसीसे वह प्रेम दुःख उत्पन्न करनेवाले कामके रूपमें परिणत हो रहा है और इसी कारण उसके परमात्ममुखी दिव्य स्वरूपका प्रकाश नहीं होता। प्रेमके दिव्य स्वरूपके प्रकाशके लिये उसकी विषयाभिमुखी गतिको पलटकर ईश्वराभिमुखी करनेकी आवश्यकता है। इसके लिये दो उपाय हैं—१–विषयोंका स्वरूपसे त्याग और २–विषयोंकी आसक्तिका त्याग। जो लोग यह मानते हैं कि विषयोंमें आसक्त रहते और यथेच्छ अमर्यादित विषयोंका संग्रह एवं उपभोग करते हुए ही भगवान्‌की भक्ति प्राप्त हो जायगी,

अथवा भगवद्भक्तिके मार्गमें विषय और विषयासक्तिके त्यागकी कोई आवश्यकता ही नहीं है, वे बहुत बड़ी भूलमें हैं। भक्तिमें तो अपने भोगके लिये कोई वस्तु रह ही नहीं जाती; जब भोक्ता ही कोई नहीं रहता, तब भोग्य वस्तु कहाँसे रहे ? वहाँ तो एकमात्र प्राणाधार भगवान् ही सर्वभोक्ता हैं और हम अपने समस्त अङ्गों एवं समस्त सामग्रियोंसहित भगवान्‌के भोग्य हैं। एकमात्र वे ही पुरुष हैं, और सब उनकी भोग्या प्रकृति हैं। ऐसी अवस्थामें भक्तका अपना कोई भोग्य विषय रह ही नहीं जाता। इसको यदि ऊँची स्थिति कहकर कोई इससे बचना चाहे तो उसे भी साधन-कालमें विषयोंका और विषयासक्तिका यथासाध्य उत्तरोत्तर त्याग करना ही पड़ता है। शरीर विषयभोगमें लगा होगा और मन विषयोंमें आसक्त रहेगा, तो फिर प्रियतम भगवान्‌की सेवा किस तन-मनसे होगी ? अतएव विषयत्यागकी बड़ी भारी आवश्यकता है। बाह्य भोग तो क्या, मनसे भी विषयोंका चिन्तन छोड़ना पड़ेगा; क्योंकि यह नियम है कि मन जिस वस्तुका चिन्तन करेगा उसीमें उसकी आसक्ति होगी। भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

अर्थात् 'विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें आसक्त होता है और मेरा बार-बार स्मरण करनेसे वह मुझमें लीन हो जाता है।'

मनको जहाँ लगाओ वहीं लग जाता है, और वह लगाना होता है इन्द्रियोंके द्वारा ही; हम बार-बार जिस प्रकारके दृश्योंको देखेंगे, जैसी बात सुनेंगे, जैसी चीज खायँगे, जो कुछ सूँघेंगे,

जैसी वस्तुका स्पर्श करेंगे, उन्हींका मनमें बार-बार चिन्तन होगा और जिस वस्तुका अधिक चिन्तन होगा, उसीमें आसक्ति होगी। नाटक देखेंगे, वेश्याका गाना सुनेंगे, उनमें आसक्ति होगी; भक्त-लीला देखेंगे, कीर्तन सुनेंगे तो उनमें आसक्ति होगी। अतएव भक्तिकी अभिलाषा रखनेवालोंको भगवान्‌के प्रतिकूल तमाम विषयोंका त्याग कर देना चाहिये। वास्तवमें इस सूत्रमें विषयत्यागमें उन्हीं विषयोंका त्याग समझना चाहिये जो हमारे मनको भगवान्‌से हटाकर भोगोंमें—जगत्-प्रपञ्चमें लगा देते हैं। ध्यान, चिन्तन, कीर्तन, भगवत्सेवा, साधुसत्कार, सत्संग आदि जो भगवदनुकूल विषय हैं, उनमें तो तन-मनको चाह करके लगाना चाहिये। और जिन विषयोंके संग्रह और सेवनकी शरीरयात्रा या कुटुम्ब-पोषणके लिये नितान्त आवश्यकता हो, उनका भी यथासम्भव बहुत ही थोड़े परिमाणमें संग्रह और सेवन करना चाहिये, और वह भी शास्त्रानुकूल तथा ईश्वरकी आज्ञा समझकर अन्य किसी भी फलकामनाको मनमें स्थान न देते हुए केवल ईश्वर-प्रीत्यर्थ ही ! इस प्रकारसे किया हुआ विषय-सेवन भी विषयत्यागके ही तुल्य समझा जाता है। केवल बाहरसे किसी विषयका त्याग कर दिया जाय और मनमें उसका स्मरण बना रहे, तो वह यथार्थ त्याग नहीं है; इसीलिये सूत्रमें विषयत्यागके साथ-ही-साथ आसक्तित्याग-की भी आवश्यकता बतलायी गयी है। महाभारतमें कहा है—

त्यागः स्नेहस्य यत्त्यागो विषयाणां तथैव च ।

(शान्तिपर्व १९२ । १७)

'विषयासक्ति और विषय दोनोंके त्यागका नाम ही त्याग है।' इसीसे विषयानुरागका त्याग होगा, और विषयानुरागसे रहित हृदय ही भगवत्प्रेमका दिव्य धाम बन सकता है। भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होनेपर तो विषयका त्याग स्वाभाविक ही रहता है। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

अमृतके स्वादको चख लेने और उसके गुणसे लाभ उठा लेनेपर फिर विषकी ओर किसीकी नजर ही क्यों जाने लगी! परन्तु उस अमृतकी प्राप्तिके लिये भी—उसकी ओर गति होनेके लिये भी विषयविषके त्यागकी आवश्यकता है। विषयासक्तिका त्याग करके भगवान्में आसक्त होनेमें ही परम सुख है। भगवान् कहते हैं—

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १२)

'मुझमें चित्त लगानेवाले और समस्त विषयोंकी अपेक्षा छोड़नेवाले भक्तको आत्मस्वरूप मुझसे जो परम सुख मिलता है, वह सुख विषयासक्तचित्त लोगोंको कहाँसे मिल सकता है?'

अव्यावृतभजनात् ॥ ३६ ॥

३६—अखण्ड भजनसे (भक्तिका साधन सम्पन्न होता है)।

भजन भक्तिका प्रधान अङ्ग है, यह साध्य और साधन दोनों है। जो भगवत्प्रेमको प्राप्त कर चुके हैं, उनके लिये अखण्ड भजन स्वाभाविक हो जाता है, और जिनको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति

करनी है उनको अखण्ड भजनका अभ्यास करना चाहिये। जो मनुष्य भजन बिना मुक्ति और भगवत्प्रेमकी प्राप्ति चाहता है वह भूलता है। गोसाईं श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

'जलके मन्थनसे चाहे घी निकल आवे, बालूसे चाहे तेल निकले; परन्तु भगवान्‌के भजन बिना भवसागरसे मनुष्य नहीं तर सकता, यह सिद्धान्त अकाट्य है।' अतएव भजन तो अनिवार्य साधन है। फिर भक्तिके साधकके लिये तो यही एक खास वस्तु है। विषयसे मन हटाकर यदि भगवान्‌में न लगाया जाय तो वह वापस दौड़कर वहीं चला जायगा। विषयत्याग वैराग्य है और भगवत्-भजन अभ्यास। इन्हीं अभ्यास-वैराग्यसे विशुद्ध भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है। परन्तु जो भजन अभी होता है, घड़ीभर बाद नहीं होता; आज किया कल नहीं,—वह प्रेम और आदरयुक्त अखण्ड भजन नहीं है। भजनरूपी अभ्यास तो वही सिद्ध होता है जो सदा होता रहे, सतत होता रहे और सत्कारपूर्वक हो। योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
(१।१४)

'दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर सत्कारके साथ करनेपर ही अभ्यास दृढ़ होता है।' इस नित्य-निरन्तरके अखण्ड स्मरणसे भगवान्‌की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। स्वयं भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मुझको स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ ।'

अतएव अखण्डरूपसे भगवान्‌का प्रेमपूर्वक चिन्तन करते हुए ही स्नान, भोजन, व्यापार आदि सब काम करने चाहिये । भगवत्-स्मरणयुक्त होनेसे प्रत्येक कार्य ही भजन हो जायगा । इस प्रकार भजनका ताँता क्षणभर भी नहीं टूटना चाहिये । स्वरूपका चिन्तन न हो सके तो निरन्तर भगवान्‌का नामस्मरण ही करना चाहिये । भगवान्‌के नामस्मरणसे मन और प्राण पवित्र हो जायँगे और भगवान्‌के पावन पदकमलोंमें अनन्य प्रेम उत्पन्न हो जायगा । नाम-जपकी सहज विधि यह है कि अपने श्वास-प्रश्वासके आने-जानेकी ओर ध्यान रखकर श्वास-प्रश्वासके साथ-ही-साथ मनसे, और साथ ही धीमे स्वरसे वाणीसे भी भगवान्‌का नाम-जप करता रहे । यह साधन उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते, खड़े रहते, सब समय किया जा सकता है । अभ्यास दृढ़ हो जानेपर चित्त विक्षेपशून्य होकर निरन्तर भगवान्‌के चिन्तनमें अपने आप ही लग जायगा । प्रायः सभी प्रसिद्ध भक्तों और संतोंने इस साधनका प्रयोग किया था । महात्मा चरणदासजी कहते हैं—

स्वासा माहीं जपेतें दुबिधा रहे न कोय ।

इसी प्रकार कबीरजी कहते हैं—

सौंस सौंस सुमिरन करौ, यह उपाय अति नीक।

मतलब यह कि भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव, रहस्य, गुण, लीला अथवा नामका चिन्तन निरन्तर तैलधाराकी भाँति होते रहना चाहिये। यही अखण्ड भजन है।

लोकेऽपि भगवद्‌गुणश्रवणकीर्तनात् ॥३७॥

३७—लोकसमाजमें भी भगवद्-गुण-श्रवण और कीर्तनसे (भक्ति-साधन सम्पन्न होता है)।

मनसे तो नित्य भगवान्‌का चिन्तन करना ही चाहिये, परन्तु कान और वाणीसे भी सदा-सर्वदा लोगोंके बीचमें भी भगवान्‌का गुण ही सुनना और कहना चाहिये। मनसे भगवच्चिन्तनकी चेष्टा तभी सफल होती है, जब हमारी इन्द्रियाँ भी भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें ही लगी रहें। सभी कार्योंका प्रायः आधार होता है सुनना और बोलना। यदि कानोंमें सदा विषयोंकी चर्चा आती रहेगी और वाणीसे सदा विषयोंकी बातें की जायँगी तो मनसे भगवान्‌का चिन्तन होना असम्भव-सा ही समझना चाहिये, परन्तु यदि कान और जबान भगवान्‌में लगे रहेंगे—उन्हें दूसरे कार्यके लिये फुरसत ही नहीं मिलेगी, तो अन्यान्य इन्द्रियाँ और मन भी स्वतः ही भगवत्परायण हो जायँगे। अतएव कान और जीभको भगवान्‌के नाम-गुण-लीलादिके सुनने और गानेमें ही निरन्तर लगाये रखना चाहिये। यही जीवनको सफल बनानेके साधन हैं। केवल जीवित रहने, श्वास लेने, खाने और मैथुन करने आदिमें ही जीवनकी सफलता मानी जाय तो क्या वृक्ष जीवित नहीं रहते? क्या लोहारकी धौंकनी श्वास नहीं लेती और क्या पशु भोजन या मैथुन नहीं करते? इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥
बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥
(२ । ३ । १९-२०)

'जिसके कर्णपथमें भगवान्के नाम-गुणोंने कभी प्रवेश नहीं किया वह मनुष्यरूपी पशु कुत्ते, विष्ठाभोजी सूअर, ऊँट और गदहेकी अपेक्षा भी अधिक निन्दनीय है । हे सूतजी ! जो कान भगवान्की लीलाका श्रवण नहीं करते वे सर्पादिके बिलके समान हैं और जो दुष्टा जिह्वा भगवान्की लीला-कथाका गान नहीं करती वह मेंढककी जीभके समान व्यर्थ बकवाद करनेवाली है ।' इसीका अनुवाद गोस्वामी तुलसीदासजीने किया है ।

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना । श्रवन रंध्र अहि भवन समाना ॥
जो नहिं करइ राम गुन गाना । जीह सो दादुर जीह समाना ॥

श्रीमद्भागवतके अन्तमें कहा गया है—

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद् भगवानधोक्षजः ।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।

तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥
(१२ । १२ । ४८-४९)

'जिस वाणीसे अधोक्षज भगवान्‌की कथा न कही जाकर विषयोंकी बुरी बातें कही जाती हैं, वह वाणी असत् और व्यर्थ है। जिन वचनोंमें भगवान्‌के गुणोंको प्रकट किया जाता है, पुण्यकीर्ति भगवान्‌का यश वर्णन किया जाता है, वास्तवमें वही वचन सत्य हैं, वही मंगलरूप हैं, वही पुण्य हैं, वही मनोहर हैं, वही रुचिर हैं, वही नित्य नये-नये रसमय हैं, वही सदा मनको महान् आनन्द देनेवाले हैं और वही मनुष्योंके शोकरूपी समुद्रको सुखानेवाले हैं।'

अतएव कानोंसे भगवान्‌के गुण और नामोंका श्रवण और वाणीसे उनका कीर्तन करना चाहिये। इसीसे भगवान्‌का निर्मल प्रेम उदय होता है।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥
(११ । २६ । २९)

य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च।
कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि।

अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥
(११ । ३१ । २७-२८)

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥
(११ । २६ । ३०)

भगवान् कहते हैं—'जो लोग मुझमें मन लगाकर श्रद्धा और आदरके साथ मेरी नाम-गुण-लीला-कथाको सुनते, गाते और उनका अनुमोदन करते हैं उनकी मुझमें अनन्य भक्ति हो जाती है ।'

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'हे राजन् ! जो मनुष्य देवदेव भगवान्के दिव्य जन्म-कर्मोंका श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता है, वह समस्त पापोंसे छूट जाता है । भगवान् श्रीहरिके अति मनोहर कल्याणकारी अवतार, पराक्रम तथा बाल-लीलाओंको सुनने तथा उनका गान करनेसे मनुष्य परमहंसोंकी गतिस्वरूप भगवान्में परा भक्तिको प्राप्त होता है ।'

भगवान् कहते हैं–'इस प्रकार मुझ अनन्तगुणसम्पन्न सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें भक्ति हो जानेपर फिर उस साधु पुरुषको और कौन-सी वस्तु प्राप्त करनी बाकी रह जाती है ? अर्थात् वह कृतार्थ हो जाता है ।'

भगवान्के नाम-श्रवण और कीर्तनका महान् फल होता है । जहाँतक भगवान्के नामकी ध्वनि पहुँचती है, वहाँतकका वातावरण पवित्र हो जाता है । मृत्युकालके अन्तिम श्वासमें भगवान्का नाम किसी भी भावसे जिसके मुँहसे निकल जाता है उसको परमपदकी प्राप्ति हो जाती है । भगवान्के नामका जहाँ कीर्तन होता है वहाँ

यमदूत नहीं जा सकते। अतएव दस नामापराधोंसे* बचते हुए भगवान्‌के नामका जप-कीर्तन और श्रवण अवश्य ही करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥

(६।२।१४, १८)

'पुत्रादिके नामसङ्केतसे, परिहासमें, स्तोभ या अवहेलनासे भी भगवान्‌का नाम लेनेसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। अज्ञान अथवा ज्ञानपूर्वक लिया हुआ पुण्यश्लोक भगवान्‌का नाम मनुष्यके पापको उसी प्रकार जला देता है जैसे अग्निमें किसी प्रकारसे भी डाला हुआ ईंधन भस्म हो जाता है।'

सभी सद्ग्रन्थों और संतोंकी वाणियोंमें भगवन्नामकी महिमा गायी गयी है। श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोक मनन करने योग्य हैं। देवी देवहूतिजी भगवान् कपिलदेवसे कहती हैं—

---

* नामके दस अपराध ये हैं १—संतोंकी निन्दा, २—भगवान्‌के नामोंमें छोटे-बड़ेका भेदभाव, ३—गुरुका अपमान, ४—शास्त्रनिन्दा, ५—नाममें अर्थवाद (अर्थात् यह समझना कि यह केवल प्रशंसामात्र है, ऐसा फल नहीं होता) मानना, ६—नामका सहारा लेकर पाप करना, ७—धर्म, व्रत, दान और यज्ञादिके साथ नामकी तुलना करना, ८—अश्रद्धालु, हरिविमुख और सुनना न चाहनेवालोंको नामका उपदेश करना, ९—नाममाहात्म्य सुनकर भी उसमें प्रेम न करना और १०—अहंकार, ममता तथा भोगादि विषयोंमें आसक्त रहना।

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(३।३३।७)

'अहो ! जिसकी जिह्वापर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है; क्योंकि जो तुम्हारे नामका कीर्तन करते हैं उन श्रेष्ठ पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्नान, वेदाध्ययन सब कुछ कर लिया।'

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥
सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥
(१२।१२।४६-४७)

'कोई भी मनुष्य गिरते, पड़ते, छींकते और दुःखसे पीड़ित होते समय परवश होकर भी यदि ऊँचे स्वरसे 'हरये नमः' पुकार उठता है तो वह सब पापोंसे छूट जाता है। जैसे सूर्य पर्वतकी गुफाके अन्धकारका भी नाश कर देता है, और जैसे प्रचण्ड वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न करके लुप्त कर देता है इसी प्रकार अनन्त भगवान्का नाम-कीर्तन अथवा उनके प्रभावका श्रवण हृदयमें प्रवेश करके समस्त दुःखोंका अन्त कर देता है।'

यह तो विवश होकर नाम लेनेका फल है। प्रेमसे लेनेपर तो कहना ही क्या। इसीसे गोसाईंजी कहते हैं—

बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥

अतएव भक्तिकी प्राप्तिके लिये नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम-गुण-यशका कीर्तन, श्रवण और चिन्तन निःसन्देह परम साधन है।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ ३८॥

३८—परन्तु (प्रेमभक्तिकी प्राप्तिका साधन) मुख्यतया (प्रेमी) महापुरुषोंकी कृपासे अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे होता है।

विषय और विषयासक्तिका त्याग करके अखण्ड भजन और श्रवण-कीर्तनका साधन बतलाये जानेके बाद अब एक ऐसा साधन बतलाया जाता है, जिस एकके प्रतापसे ही पहले तीनों अपने-आप हो जाते हैं—वह साधन है 'महापुरुषोंकी कृपा'। महापुरुष तो कृपालु ही होते हैं, परन्तु श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनका सङ्ग करना बड़ा कठिन है। महापुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होनेपर विषय तो आप ही छूट जाते हैं। उनके सङ्गसे श्रवण-कीर्तन भी करना ही पड़ता है और रात-दिन जो कुछ सुनने, कहने और देखनेमें आता है, उसका स्मरण अनिवार्य है ही। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ जिन महापुरुषोंकी कृपामात्रसे ही फलरूपा प्रेमभक्तिकी प्राप्ति बतलायी है वे महापुरुष केवल शास्त्रज्ञानी और सदाचारी ही नहीं होते, भगवान्‌के स्वरूप-तत्त्वको यथार्थरूपसे जानकर उनमें

अनन्य प्रेम करनेवाले भक्त होते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तोंके सङ्गकी बड़ी महिमा है। इसीसे, यज्ञ-धूमसे जिनके शरीर धुमैले हो गये हैं, ऐसे कर्मकाण्डी विज्ञानविद् ऋषि भगवच्चरणकमलरसामृतका पान करानेवाले प्रेममूर्ति सूतजीसे कहते हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(श्रीमद्भा० १। १८। १३)

'हे सौम्य! भगवत्सङ्गी प्रेमियोंके निमेषमात्रके सङ्गकी तुलना, स्वर्गादिकी तो बात ही क्या, पुनर्जन्मका नाश करनेवाली मुक्तिके साथ भी नहीं की जा सकती, फिर मर्त्यलोकके राज्यादि सम्पत्तिकी तो बात ही क्या है?' इसीके आधारपर रामचरितमानसमें कहा गया है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

यह उस सत्सङ्गकी महिमा नहीं है जो अन्तःकरणकी शुद्धि करके मोक्षप्राप्ति करवाता है। क्योंकि यहाँ तो मोक्षके साथ लवमात्रके ऐसे सत्सङ्गकी तुलना करना भी असङ्गत बतलाया गया है। अतएव यहाँ उन भगवत्तत्त्वके ज्ञाता होकर भगवत्-प्रेमके रंगमें रँगे हुए मोक्षसंन्यासी भगवत्सङ्गी (सर्वैश्वर्यपूर्ण मधुरतम लीलाविहारी भगवान्‌के नित्य लीलासङ्गी) प्रेमी संतोंकी उस कृपाका उल्लेख है, जो केवल मुक्ति ही नहीं, भगवान्‌के प्रेमरूपी भक्तिकी प्राप्ति भी सहज ही करवा देती है; क्योंकि मुक्तिको तो ऐसे प्रेमी चाहते ही नहीं। वरं मुक्तिकी चाहको ही वे प्रेमरूपा

भगवद्भक्तिकी उत्पत्तिमें बाधा देनेवाली पिशाचिनी समझकर उसका तिरस्कार किया करते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तोंकी कृपा जिनपर होती है, जो पुरुष ऐसे भक्तोंका संग प्राप्त कर लेता है, योग और ज्ञान आदिसे भी वशमें न होनेवाले भगवान् (सहज ही) उसके वशमें हो जाते हैं। इसीलिये स्वयं भगवान् अपने प्रेमी भक्त उद्धवसे कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भा० ११। १२। १-२)

'हे उद्धव! दूसरे समस्त संगोंका निवारण करनेवाले 'सत्संग'से मैं जैसा वशीभूत होता हूँ वैसा योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप, त्याग, इष्टापूर्त दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियम किसीसे नहीं होता।'

इसका कारण यह है कि अन्यान्य सब साधन, सकामभावसे होनेपर भोग और स्वर्गादिकी, और निष्कामभावसे होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि और मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं। लीलाविहारी भगवान्‌को सीधा वशमें करनेवाला तो केवल एक सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, अनन्य और विशुद्ध प्रेम ही है, जो इन साधनोंमेंसे किसीसे नहीं मिलता; वह तो केवल भगवत्संगी प्रेमी महापुरुषोंकी महती कृपासे ही मिलता है।

भगति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

हाँ, यदि श्रीभगवान् चाहें तो स्वयमेव अपना प्रेम दे सकते हैं; उनकी कृपाके लेशमात्रसे ही प्रेम मिल सकता है। गोसाईंजीने कहा है—

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

परन्तु नित्य कृपावर्षा करनेवाले भगवान्‌का कृपाविन्दु भी भगवदीय महात्माओंकी कृपासे ही जीवोंको मिल सकता है अतएव ऐसे प्रेमी संतोंका संग ही प्रधान साधन है, परन्तु ऐसा संग प्राप्त होना अपने वशकी बात नहीं! इसीसे देवर्षि नारदजी अगले सूत्रमें महत्संगको दुर्लभ बतलाते हैं—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ ३९ ॥

३९—परन्तु महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।

संसारमें स्वधर्मपरायण, सदाचारी, साधुस्वभाव, दैवी सम्पत्तिवान् पुरुषोंकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। सच्चे हीरोंकी भाँति जमातों और उपदेशकोंमें सच्चे साधु थोड़े ही होते हैं; पर खोज करनेपर संसारमें सदाचारी, कर्मकाण्डी और कुछ ज्ञानी पुरुष तो मिल भी सकते हैं। परन्तु ऐसे सच्चे प्रेमी महात्मा बहुत ही कम मिलते हैं जिनकी कृपामात्रसे परमदुर्लभ योगि-ज्ञानि-जनवाञ्छित भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाती हो। इसीलिये ऐसे महात्माओंका मिलन बहुत दुर्लभ माना जाता है। यदि कहीं ऐसे महापुरुष मिल भी जाते हैं तो उनका पहचानना बहुत कठिन होता है।

क्योंकि बाह्य आचार तो ढोंगी और नाटकके पात्र भी किसी अंशमें वैसा ही दिखला सकते हैं। आँखोंसे आँसुओंका बहना, रोना, हँसना और चिल्लाना ही प्रेमीके लक्षण नहीं हैं। अनेक बाह्य कारणोंसे भी ऐसा हो सकता है। फिर कोई-कोई सच्चे प्रेमी ऐसे भी हो सकते हैं, जो इन लक्षणोंवाली स्थितिसे भी आगे बढ़ चुके हों और जिनके बाह्य आचार साधारण समझसे बाहर हों। प्रेमीजन तो किसीको कहने जाते ही नहीं कि हमें प्रेमी मानो; और कहनेसे मानता भी कौन है। अतएव ऐसे निःस्पृही भगवज्जनोंकी पहचान बहुत ही कठिन है, इसीसे उनके संगको दुर्गम बतलाया गया है। परन्तु सौभाग्यसे यदि कहीं ऐसे महात्मा पुरुष मिल जाते हैं तो उनका बिना जाने मिल जाना भी कभी व्यर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि वह अमोघ है। जब साधारण सदाचारी, विद्वान् साधुओंका समागम ही अन्तःकरणकी शुद्धिका कारण होकर पाप, ताप और दैन्यका निवारण करनेमें समर्थ होता है; तब जिनका हृदय भगवत्प्रेमसे छलकता है, जो प्रेम और आनन्दकी मूर्ति हैं, जिनके स्मरणमात्रसे ही पापोंका नाश होता है, उन भगवदीय प्रेमी महात्माओंके दर्शनका महान् फल अवश्य ही प्राप्त होता है।

जैसे अमावस्याकी अँधेरी रातमें सोया हुआ आदमी यदि सूर्योदय होनेपर भी सोता ही रहे तो उसको न जागनेतक प्रकाशका अनुभव नहीं होता, परन्तु प्रकाश तो सूर्योदयके साथ-साथ हो ही जाता है और जैसे कोई धनी पुरुष अपने किसी प्रेमी दरिद्र आदमीके नामपर अपनी करोड़ोंकी सम्पत्ति ट्रांस्फर करवा देता है, तो वह दरिद्र उसी समयसे धनी

तो हो जाता है; परन्तु जबतक उसको इस बातका पता नहीं लगता तबतक वह अपनेको दरिद्र ही समझता है। इसी प्रकार किन्हीं भगवत्प्रेमी महापुरुषके अज्ञात सङ्गसे भी पाप और अज्ञान-रूपी अन्धकारका नाश होकर ज्ञानरूप सूर्यका प्रकाश और प्रेमरूप परमनिधि तो मिल जाती है, परन्तु जबतक इस बातका पता नहीं लगता तबतक इस लाभसे अपरिचित रहनेके कारण मनुष्य आनन्दको प्राप्त नहीं होता। अवश्य ही इस स्थितिका परिचय मिलनेमें अधिक विलम्ब नहीं होता। इसीसे महत्सङ्गको अमोघ (अवश्य फलदायी) बतलाया गया है।

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ ४० ॥

४०–उस (भगवान्) की कृपासे ही (महत्पुरुषोंका) सङ्ग भी मिलता है।

अवश्य ही ऐसे संतका मिलन हरि-कृपासे ही होता है। भगवान् जिसपर कृपा करके अपनाना चाहते हैं, उसीके पास, प्रेमपाशमें अपनेको बाँध रखनेकी शक्तिवाले, अपने ही स्वरूपभूत प्रेमी भक्तको भेजते हैं। वस्तुतः भगवत्कृपा और महान् पुरुषोंका सङ्ग एक-दूसरेके आश्रित हैं। महत्पुरुषोंके सङ्ग बिना भगवत्कृपा-का अनुभव नहीं होता, और भगवत्कृपा बिना ऐसे महापुरुष नहीं मिलते। श्रीविभीषणको भी श्रीहनूमान्‌जीके मिलनेपर ही भगवत्कृपाका अनुभव हुआ, इसीसे उन्होंने कहा—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ ४१ ॥

४१–क्योंकि भगवान्‌में और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।

भगवान्‌के भक्त भगवत्स्वरूप ही हैं (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति)। जो भक्तोंका सेवन करते हैं वे भगवान्‌का ही सेवन करते हैं। भक्त भगवान्‌के हृदयमें बसते हैं और भगवान् भक्तके हृदयमें। भगवान्‌ने कहा है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(श्रीमद्भा० ९। ४। ६८)

'साधु मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते और मैं उन्हें छोड़कर और किसीको नहीं जानता।' भरत रामको भजते हैं और राम भरतको—

भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम रामु जप जेही॥

श्रीभगवान्‌ने प्रेमस्वरूपा गोपियोंके सम्बन्धमें कहा है—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

'हे अर्जुन! मेरा माहात्म्य, मेरी पूजा, मेरी श्रद्धा और मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं, और कोई नहीं जानता।'

ऐसे प्रेमी भक्तोंमें और भगवान्‌में क्या अन्तर है? भगवान्‌ने कहा ही है—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९। २९)

'जो प्रेमसे मुझको भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।' ऐसे भक्त भगवत्प्रेममें इस प्रकार तल्लीन रहते हैं कि वे अपने बाह्य रूपको भूलकर साक्षात् भगवत्स्वरूपका अनुभव करने लगते हैं। गोपियाँ भगवान्‌को ढूँढ़ती हुई ऐसी तन्मय हो गयीं कि वे उन्हींकी लीला करने लगीं—

मोहन लाल रसालकी लीला इनहीं सोहैं।
केवल तन्मय भईं कछु न जानैं हम को हैं ॥

(नन्ददासजी)

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ ४२ ॥

४२–(अतएव) उस (महत्सङ्ग) की ही साधना करो, उसीकी साधना करो।

अतएव भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये ऐसे भगवत्प्रेमी महापुरुषोंके सङ्गकी ही प्रबल इच्छा करो। भगवत्कृपासे प्रेमी संत मिल जायँगे और संत-मिलनके प्रतापसे ही हम पाप-तापसे छूटकर निर्मल भगवत्प्रेमको प्राप्त कर सकेंगे। इसमें एक बड़ा रहस्य है। मान लीजिये, एक महान् प्रतापी राजा है और साथ ही वह बड़ा भारी प्रेमी भी है; परन्तु प्रेम हरेकके साथ नहीं होता। राजा राजसभामें और अपने राज्यमें अपना प्रभाव और ऐश्वर्य तो खूब दिखला सकता है, परन्तु अपने मुँहसे अपने प्रेमका रहस्य किसीके सामने नहीं कह सकता। हम प्रजाके रूपमें विधिके अनुसार उससे मिलकर विधिवत् बातें कर सकते हैं, परन्तु न तो प्रेमका रहस्य पूछ सकते हैं और न वह हमें बतला ही सकता है। उसके प्रेमका गुह्य रहस्य जानना या उसके प्रेमराज्यमें प्रवेश करना हो तो उसके किसी अनन्य प्रेमीका—जिसके साथ राजाका व्यक्तिगत प्रेमका निर्मल (राज्यविधिसे अतीत) सम्बन्ध है और जिसके साथ वह परस्पर खुली प्रेमचर्चा करता है—सङ्ग करना होगा, और उसके हृदयमें अपना विश्वास पैदा करके उसके द्वारा राजाके प्रेमका रहस्य जानना होगा और उसीके द्वारा राजाके निकट अपना प्रेमसन्देश पहुँचाना होगा तथा

अपनी पात्रता सिद्ध करनी होगी। जब राजा हमें पात्र समझ लेगा तो हमें भी उसीकी भाँति प्रेमगोष्ठीमें शामिल कर लेगा। इसी प्रकार भगवान् भी अपने प्रेमका रहस्य अपने मुँहसे नहीं बतलाते। भगवान्ने उद्धवको प्रेमशिक्षा दिलानेके लिये गोपियोंके पास भेजा था। प्रियतमका प्रेमरहस्य और उसके प्रेमकी गुह्यतम बातें जैसे उसकी प्रियतमाके द्वारा ही उसकी विश्वस्त सखियोंको मिलती हैं, इसी प्रकार भगवान्के प्रेमका रहस्य भी भगवत्प्रेमी भक्तोंके द्वारा ही साधकको मिलता है। और मिलता भी है उसीको, जिसको भगवान् पात्र समझकर कृपा करके अपने प्रेमका भेद देना चाहते हैं। क्योंकि प्रेमी भक्त प्रेमास्पद प्रियतम भगवान्की इच्छा या आज्ञा बिना उनके प्रेमका रहस्य किसीके सामने नहीं खोल सकते। पहले साधकको पात्र बनना होता है। जब भगवान्के निर्मल अत्युच्च प्रेमकी एकान्त आकाङ्क्षा उसके मनमें उत्पन्न हो जाती है तब उसका हृदय भगवत्प्रेमके लिये रोने लगता है। उसके हृदयका आर्तनाद अन्तर्यामी आनन्दमय प्रभु सुनते हैं, और तब कृपा करके वे अपने किसी प्रेमी भक्तको आदेश या संकेत करके उसके समागममें भेज देते हैं। वहाँ पहले उसके प्रेमकी परीक्षा होती है। यदि उसका प्रेम कामनाशून्य और अनन्य होता है, और वह अपने आचरण और व्यवहारसे उस प्रेमी भक्तके हृदयमें पात्रताका विश्वास पैदा कर देता है, तब वे उसका सन्देश भगवान्के पास पहुँचाते हैं और भगवान्की आज्ञा प्राप्त करके क्रमशः प्रेमका रहस्य उसके सामने खोलते हैं और धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों उसकी पात्रता बढ़ती है त्यों-ही-त्यों भगवान्की आज्ञासे वे उसे भगवान्के

प्रेमराज्यमें उत्तरोत्तर आगे बढ़ाकर ले जाते हैं और अन्तमें उसपर भगवान्‌की पूर्ण कृपा होनेसे वह भगवत्प्रेमको प्राप्त कर लेता है। राजा या उसका प्रेमी तो अन्तर्यामी न होनेसे किसीके धोखेमें भी आ सकता है, परन्तु भगवान् और भगवान्‌की इच्छासे नियुक्त होनेवाले प्रेमी भक्त कभी धोखा नहीं खाते। अतएव जिसको भगवत्प्रेमकी प्राप्तिकी इच्छा हो, उसे देवर्षिके बतलाये हुए साधनोंमें तत्पर होकर पहले पात्र बनना चाहिये, जिससे उसपर भगवान्‌की कृपा हो और वह भगवत्प्रेमी पुरुषोंके सङ्गका पात्र समझा जाय। साथ ही ऐसे भगवत्प्रेमी पुरुषोंके सङ्गकी इच्छा प्रबलरूपसे बढ़ानी चाहिये, क्योंकि इनके सङ्ग बिना भगवत्प्रेमकी प्राप्ति महान् कठिन है। इसीसे भगवान् अपने निर्मल प्रेमके प्रचारार्थ ऐसे भक्तोंको, मुक्तिके पूर्ण अधिकारी होनेपर भी, उनके मनमें प्रेमकी वासना जाग्रत् रखकर उन्हें सायुज्य मुक्ति नहीं देते, और इसीसे प्रेमी भक्तगण इस प्रेम-लीला-सुखको छोड़कर मुक्तिकी कभी चाह नहीं करते। वे मुक्त होकर भी केवल प्रेमवितरणके लिये ही संसारमें आया करते हैं या निवास करते हैं। वे अहैतुक कृपालु होते हैं। हमारी तीव्र इच्छा पावेंगे तो भगवत्कृपासे भगवान्‌का संकेत प्राप्तकर अपने पुण्यमय दर्शन-स्पर्श-भाषण और अपनी महती कृपासे हमें अवश्य प्रेमदान करेंगे; क्योंकि वे तो प्रेमी जनोंकी खोजमें ही रहते हैं। उनका काम ही प्रेमदान करना है। अतएव उन्हीं भगवत्सङ्गी प्रेमी महानुभावोंका सङ्ग प्राप्त करो, उन्हींकी कृपाकी इच्छा करो!

प्रेमरूपा भक्तिमें प्रधान बाधा कुसङ्गति है

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

४३–दुःसङ्गका सर्वथा ही त्याग करना चाहिये ।

सत्सङ्गका महत्त्व बतलाकर अब देवर्षि दुःसङ्गका निषेध करते हैं । जिस प्रकार सत्सङ्गसे भगवत्कथा, भगवच्चर्चा, भगवन्नाम, भगवत्प्रीति, सदाचार, शास्त्र, विवेक, वैराग्य, सत् अभ्यास, सेवा, सरलता, नम्रता, क्षमा, तितिक्षा, शौच, दया, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, निरभिमानता और शान्ति आदिके प्रति प्रवृत्ति होती है और मनुष्य सदाचारपरायण परमभक्त बन सकता है; इसी प्रकार इसके विपरीत दुःसङ्गसे विषयवार्ता, जगच्चर्चा, लोकनिन्दा, भोगप्रीति, दुराचार, उच्छृङ्खलता, अविवेक, विषयलोलुपता, दुष्ट अभ्यास, मान, दम्भ, घमण्ड, क्रोध, असहिष्णुता, अपवित्रता, निर्दयता, हिंसा, असत्य, इन्द्रियलम्पटता, अभिमान और अशान्ति आदिके प्रति प्रवृत्त होकर मनुष्य पापपरायण और अत्यन्त विषयासक्त हो जाता है । दुःसङ्गसे आसुरी सम्पत्तिके सभी दुर्गुण और दुराचारोंका विकास और विस्तार होता है । दुःसङ्गसे मनुष्यके समस्त सद्गुणोंका विनाश होकर उसका सर्वनाश

हो जाता है। परम सुशीला, स्नेहमयी प्रेमप्रतिमा देवी कैकेयी मन्थराकी कुसङ्गतिके कारण ही महाराज दशरथके, भरतके, अपने और तमाम अयोध्यावासियोंके परम शोकका कारण बनी थीं और इसीसे उन्हें अन्तमें दुःखप्रद वैधव्यका सहन करना और प्राणप्रिय भरतका अप्रीतिभाजन होकर रहना पड़ा था। शकुनिकी कुसङ्गति ही महाभारतके भयानक संहारमें एक प्रधान कारण हुई। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिजीसे कहते हैं—

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥
(३।३१।३२–३४)

'जो मनुष्य शिश्नोदरपरायण (स्त्री और धनमें ही आसक्त) नीच पुरुषोंका सङ्ग करके उनके अनुसार बर्ताव करने लगता है वह उन्हींकी भाँति अन्धकारमय नरकोंमें जाता है। क्योंकि दुष्टसङ्गसे सत्य, पवित्रता, दया, मननशीलता, बुद्धि, लज्जा, श्री, कीर्ति, क्षमा, मनका वशमें रहना, इन्द्रियोंका वशमें रहना और ऐश्वर्य आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव उन अशान्तचित्त, मूर्ख, नष्टबुद्धि, स्त्रियोंके हाथके खिलौने बने हुए, शोचनीय, असाधु दुष्ट मनुष्योंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये।'

अतएव दुःसङ्गका त्याग तो सभीके लिये आवश्यक है, पर भगवत्प्रेमकी इच्छा करनेवालोंको तो दुःसङ्गका त्याग बड़ी ही सावधानीसे करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणसे कहा है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

'हे विभीषण! नरकमें रहना अच्छा है, परन्तु विधाता कभी दुष्टका सङ्ग न दे।' दुष्ट-सङ्गसे केवल दुराचारी मनुष्योंका ही सङ्ग नहीं समझना चाहिये। इन्द्रियोंका कोई भी विषय, जो हमारे मनमें असद्विचार तथा विषयोंकी लालसा उत्पन्न करे और भगवत्प्राप्तिके मार्गसे हमारे चित्तको चलायमान कर दे, दुःसङ्ग हो सकता है। हमें न कोई ऐसी चेतन वस्तु या जड दृश्य देखना चाहिये, न ऐसी बात सुननी चाहिये, न ऐसी चर्चा करनी चाहिये, न वैसे स्थानमें जाना चाहिये, न वैसी पुस्तक या पत्रिका पढ़नी चाहिये, न वैसा चित्र देखना चाहिये, न वैसी वस्तु खानी, सूँघनी या स्पर्श करनी चाहिये और न वैसा विचार ही करना चाहिये, जिससे हमारे चित्तमें विषयचिन्तनकी प्रबलता हो जाय। याद रखना चाहिये कि मनुष्यमें अच्छे और बुरे भावोंकी उत्पत्ति और वृद्धिमें कम-से-कम ये दस बातें प्रधान कारण होती हैं—स्थान, अन्न, जल, परिवार, अड़ोस-पड़ोस, दृश्य, साहित्य, आलोचना, आजीविकाका कार्य और उपासना। यदि ये सब सात्त्विक होते हैं तो इनके सेवनसे सात्त्विकता बढ़ती है। इन्हींका सेवन सत्सङ्ग है। और यदि ये राजस या तामस हैं तो इनका सेवन दुःसङ्ग है और उससे अज्ञानकी वृद्धि होकर तमाम दोषोंका विकास हो जाता है। अतएव दुःसङ्गका सब प्रकारसे सर्वथा त्याग करना चाहिये।

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥ ४४ ॥

४४–**क्योंकि** वह (दुःसङ्ग) **काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश एवं सर्वनाशका कारण है ।**

भगवत्सम्बन्धी तत्त्व-रहस्य तथा लीला-कथाओंको छोड़कर इन्द्रियोंको भोगके समय तृप्ति देनेवाले लौकिक विषयोंका चिन्तन ही सर्वनाशकी जड़ है । चित्त निरन्तर या अधिक समयतक जिस विषयका चिन्तन करता है, उसीमें उसकी आसक्ति होती है । दुःसङ्गसे—सांसारिक विषयों और विषयी पुरुषोंके शरीर, वाणी और मनद्वारा किये हुए सङ्गसे स्वाभाविक ही विषयासक्ति बढ़ती है । आसक्तिसे कामना होती है, यह कामना ही समस्त पापोंका मूल है, कामनाकी तृप्तिसे अधिक प्राप्तिके लिये लोभ उत्पन्न होता है और अतृप्तिसे वही कामना क्रोधके रूपमें परिणत हो जाती है । इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने राग या आसक्तिरूपा रजोगुणसे उत्पन्न कामको ही पापोंके होनेमें प्रधान कारण बतलाया है । अर्जुनने पूछा कि 'भगवन् ! मनुष्य न चाहता हुआ भी जबर्दस्ती पकड़ा-सा जाकर किसकी प्रेरणासे पाप करता है ?' इसके उत्तरमें भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, इस महापापी कामका पेट कभी नहीं भरता; इस विषयमें तुम इस कामको ही (पाप करानेवाला) अपना शत्रु मानो ।' यद्यपि कामसे लोभ और क्रोध दोनों ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु संसारमें मनमानी थोड़ी ही कामनाओंकी पूर्ति होती है; अधिकांशमें तो विफलता ही प्राप्त होती है । विफलतामें क्रोध उत्पन्न होता है; क्रोधकी उत्पत्ति हो जानेपर मनुष्य विवेक-विचारशून्य हो जाता है । उसे हिताहित कुछ भी नहीं सूझता, वह पिशाचकी भाँति केवल विनाशका ही प्रयत्न करता है । इस मोहमें उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है और स्मृति भ्रष्ट होनेपर बुद्धि मारी जाती है । बुद्धिके नष्ट होनेपर वह इस लोक और परलोकके कल्याणपथसे गिर जाता है—उसका सर्वनाश हो जाता है । ठीक यही बात श्रीभगवान्‌ने भी गीताके अध्याय २, श्लोक ६२-६३ में कही है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

'विषयोंके चिन्तनसे मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, (कामकी तृप्तिमें बाधा होनेसे) उस कामसे ही क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे सम्मोह होता है, सम्मोहसे स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे (पुरुषका) सर्वनाश हो जाता है ।'

सर्वनाशके कारणभूत विषयोंका चिन्तन होनेमें विषय और विषयी पुरुषोंका सङ्ग ही प्रधान है, यही दुःसङ्ग है; अतएव इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति ॥ ४५ ॥

४५–ये (काम-क्रोधादि) पहले तरङ्गकी तरह (क्षुद्र आकारमें) आकर भी (दुःसङ्गसे विशाल) समुद्रका आकार धारण कर लेते हैं।

जबतक दोषोंका समूल विनाश न हो जाय, तबतक तनिक-से दोषसे भी डरते ही रहना चाहिये; जैसे ईंधनमें दबी हुई जरा-सी चिनगारी हवाके जोरसे विशाल अग्निका रूप धारण कर लेती है, इसी प्रकार दबा हुआ जरा-सा भी दोष कुसङ्ग पाते ही पनपकर विशाल रूप धारण कर लेता है। पहले-पहले जब मनमें काम-क्रोधका विकार उत्पन्न होता है तो उसकी एक लहर-सी ही आती है, परन्तु कुसङ्ग पाते ही वह लहर समुद्र बन जाती है, फिर चारों ओरसे सारे हृदयपर उसीका अधिकार हो जाता है, सद्विचारके प्रवेशकी भी गुंजाइश नहीं रह जाती; उससे सर्वनाश ही होता है। अतएव यह नहीं समझना चाहिये कि हमारे अंदर सद्गुण अधिक हैं और दोष कम हैं, इससे कुसङ्गसे हमारी क्या हानि होगी ! वरं सदा-सर्वदा अत्यन्त सावधानीके साथ सब प्रकारसे कुसङ्गका त्याग ही करना चाहिये।

मायासे कौन तरता है ?

कस्तरति कस्तरति मायाम् ? यः सङ्गाँस्त्यजति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ॥ ४६ ॥

४६–(प्रश्न) कौन तरता है ? (दुस्तर) मायासे कौन तरता है ? (उत्तर) जो सब सङ्गोंका परित्याग करता है, जो महानुभावोंकी सेवा करता है और जो ममतारहित होता है ।

नदीमें तैरनेवाले मनुष्यके लिये सबसे अधिक आवश्यक काम होता है हाथों और पैरोंसे नदीके जलको फेंकते जाना, निरन्तर जलको काटते रहना; तभी नया तैराक नदीके पार जा सकता है । जलको फेंकना छोड़ दे तो तत्काल डूब जाय । इसी प्रकार इस महाभयावनी दुस्तर मायानदीको तैरकर जो उस पार जाना चाहते हैं, उन्हें अहङ्कार और विषयासक्तिरूपी जलको बराबर अलग फेंकते रहना चाहिये । अहङ्कार और आसक्तिरूपी जलसे ही यह मायानदी भरी है; जो अहङ्कार और आसक्तिको दूर नहीं फेंक सकता, इनका त्याग नहीं करना चाहता, वह इस मायानदीके जलमें रमकर अतल तलमें डूब जायगा । इसलिये सङ्गत्याग अवश्य करना चाहिये; परन्तु हाथ-पैर मारते-मारते भी उनके थक जानेकी अथवा श्वास टूट जानेकी सम्भावना है, अतएव बीच-बीचमें ऐसा अवलम्बन चाहिये जहाँ कुछ देर ठहरकर वह विश्राम ले सके । इस मायानदीमें भी केवल सङ्गत्यागसे काम नहीं चलता, इसमें भी विश्रामस्थल चाहिये । वे विश्रामस्थल संतोंके सुधामय वचन ही हैं

जिनके सहारेसे नवीन बल प्राप्त होता है और उस बलसे मनुष्य मायासमुद्रके पार पहुँच जा सकता है । वस्तुतः संतसेवी साधकको अपने बलसे तैरना पड़ता ही नहीं, वह तो संत महानुभावोंकी कृपारूपी सुदृढ़ जहाजपर सवार होकर अनायास ही तर जाता है । इसीलिये देवर्षि महानुभावोंकी सेवा करनेको कहते हैं ।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥
(११ । २६ । ३२)

'जलमें डूबते हुए लोगोंके लिये दृढ़ नौकाके समान इस भयङ्कर संसारसागरमें गोते खानेवालोंके लिये ब्रह्मवेत्ता शान्तचित्त संतजन ही परम अवलम्बन हैं ।'

महानुभाव संतोंकी सेवासे पाप-ताप और मोह अनायास ही दूर हो जाते हैं ।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥
(११ । २६ । ३१)

'जिस प्रकार भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेपर शीत, भय और अन्धकार तीनोंका नाश हो जाता है, इसी प्रकार संत पुरुषोंके सेवनसे पापरूपी शीत, जन्म-मृत्युरूपी भय और अज्ञानरूपी अन्धकार ये कोई भी नहीं रहते ।'

निर्मल हरिभक्तिकी प्राप्तिके लिये तो महापुरुषोंकी चरणसेवा ही प्रधान है । श्रीमद्भागवतमें भक्तराज प्रह्लाद और ज्ञानिप्रवर अवधूतशिरोमणि जडभरतके वचन हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥
(७।५।३२)

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥
(५।१२।१२)

प्रह्लाद कहते हैं कि 'हे पिता ! जिन भगवान् श्रीहरिके चरणोंका स्पर्श समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति करनेवाला है, उन श्रीहरिचरणोंमें तबतक प्रेम नहीं होता जबतक अकिञ्चन (सब कुछ भगवान्‌को अर्पण कर चुकनेवाले) साधु महान् पुरुषोंकी चरणधूलिसे मस्तकका अभिषेक न किया जाय ।'

महात्मा जडभरत राजा रहूगणसे कहते हैं—

'हे रहूगण ! यह भगवत्तत्त्वका ज्ञान और भगवत्प्रेम तप, यज्ञ, दान, गृहस्थाश्रमद्वारा परोपकार, वेदाध्ययन और जल, अग्नि एवं सूर्यकी उपासनासे नहीं मिलता। यह तो महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिमें स्नान करनेसे अर्थात् उनकी चरणसेवासे ही मिलता है ।'

परन्तु इतना स्मरण रहे कि महापुरुषोंकी सेवाका अर्थ केवल उनके समीप रहना या उनके शरीरकी सेवा करना ही नहीं है। उसकी भी यथायोग्य आवश्यकता और सार्थकता है; परन्तु जबतक

हम उनके आज्ञानुसार क्रिया नहीं करते, उनके इशारेपर नहीं चलते एवं उनकी रुचिके अनुसार अपना जीवन निर्माण नहीं करते तब-तक सेवामें त्रुटि ही समझनी चाहिये। अतएव इस बातको समझकर सर्वदा और सर्वथा महानुभावोंकी सेवा करनी चाहिये।

परन्तु इसमें ममता एक बड़ी बाधा है। ममताके बन्धनसे संतसेवा हो ही नहीं सकती। घर मेरा, शरीर मेरा, परिवार मेरा, धन मेरा, सम्बन्धी मेरे, मकान मेरा, जमीन मेरी—इस प्रकार मेरे-मेरेके अनगिनत बन्धनोंमें जीव बँधा है; इन ममताके बन्धनोंको तोड़ना होगा। अवश्य ही सत्सङ्ग और संतोंकी सेवारूपी दिव्य मणिदीपकके प्रकाशसे ममतारूपी अन्धकारमयी रात्रिका अन्धकार बहुत कुछ कम हो जाता है, तथापि पहले संतसङ्गमें जानेके लिये भी तो ममताको कम करनेकी आवश्यकता है। अतएव संसारके इन ममत्वके विषयोंको दुःखरूप, अनित्य और अज्ञानमूलक समझकर इनके प्रति मेरे भावको सर्वथा त्याग करना चाहिये। यह समझना चाहिये कि संसारमें मेरा कुछ भी नहीं है। जिस शरीरको मनुष्य मेरा ही नहीं वरं 'मैं' कहता है वह भी नष्ट हो जाता है, तब फिर अन्य वस्तुओंमें मेरापन समझना तो मूर्खता ही है। मायासे तरनेके लिये इस मेरेपनका नाश जरूर करना चाहिये। जो ऐसा करता है वह मायासे तर जाता है।

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ॥४७॥

४७-जो निर्जन स्थानमें निवास करता है, जो लौकिक बन्धनोंको तोड़ डालता है, जो तीनों गुणोंसे परे हो जाता है और जो योग तथा क्षेमका परित्याग कर देता है ।

मायासे तरनेके लिये पूर्वसूत्रमें तीन उपाय बतलाये गये हैं, अब इस सूत्रमें चार उपाय बतलाये जाते हैं और अगले दो सूत्रोंमें क्रमशः पाँच उपाय या लक्षण और बतलायेंगे ।

ममताका त्याग दिन-रात ममत्वकी वस्तुओंके बीचमें रहनेसे नहीं होता; सङ्गसे तो ममता उलटी बढ़ती है, अतएव साधकको एकान्त-सेवन करना चाहिये । श्रीभगवान्‌ने गीतामें—

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

(१३ । १०)

—'एकान्त स्थानमें रहने और मनुष्योंकी भीड़-भाड़में प्रीति न रखनेकी आज्ञा दी है ।' मनुष्य कितना भी साधन करनेकी चेष्टा करे, परन्तु जबतक वह विषय-वासनासे जकड़े हुए जनसमुदायमें और मोहक विषयोंसे भरे हुए स्थानोंमें रहेगा तबतक भगवान्‌में उसका मन लगना बहुत कठिन है, इसीलिये साधकको एकान्त देशमें रहकर भक्तिका साधन करना बतलाया गया है । साथ ही भगवान्‌के साथ प्रेमका बन्धन बाँधनेके लिये लोकबन्धनको तोड़ना आवश्यक है । एकान्तदेशसेवनसे लोकसङ्ग छूट जानेके कारण लोकबन्धन स्वयमेव ही ढीला हो जायगा । इसके अतिरिक्त भगवान्‌के रहस्य, प्रभाव और तत्त्वके साथ मृत्युमय और दुःखालय इस लोककी तुलना करके बारंबार विचार करनेपर लोकबन्धन आप ही टूट जाता है ।

इसके बाद भक्तिके साधकको सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे परे होना पड़ेगा । संसारका प्रकाश इन गुणोंसे ही

होता है। गुणोंका ही कार्य यह संसार है, अतएव इस संसारके पदार्थोंमें अनासक्ति या विरक्ति होना ही निस्त्रैगुण्य या असंसारी होना है। जो मनुष्य विषयासक्त और विषयकामी है, वही गुणबद्ध है और जो भगवदासक्त और भगवत्प्रेमी है वही निस्त्रैगुण्य है। जो निस्त्रैगुण्य होगा वह योगक्षेमकी चिन्ता क्यों करने लगा ? संसारमें तो उसका कोई प्रलोभन ही नहीं है, क्योंकि वह निस्त्रैगुण्य है; और मोक्षकी सिद्धिसे भी वह निःस्पृह है, क्योंकि वह भगवान्‌का प्रेमी है। अप्राप्तकी प्राप्तिको 'योग' और प्राप्तके संरक्षणको 'क्षेम' कहते हैं। इसमें केवल भोजनाच्छादनका भाव ही नहीं है; पारमार्थिक अर्थमें तो योगका अर्थ है भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्राप्तिका सफल साधन, और क्षेमका अर्थ है भगवत्-प्राप्तिके साधनका संरक्षण। प्रेमी भगवद्भक्त इन दोनों ही अर्थोंमें योगक्षेमकी परवा नहीं करता, वह तो भगवत्प्रेममें ही मस्त रहकर भगवत्प्रेरणासे सदा-सर्वदा भगवदनुकूल स्वाभाविक कर्म करता रहता है। भक्तका योगक्षेम स्वयं भगवान् ही चलाते हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें स्वयं कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९।२२)

'जो अनन्य भक्त निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए मेरी निष्काम उपासना करते हैं उन नित्य मुझमें लगे रहनेवाले भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।'*

---

* श्रीजगन्नाथपुरीमें एक सरल हृदयके सदाचारी ब्राह्मण सपरिवार रहते थे। उनको गीतासे बड़ा प्रेम था, वे दिन-रात गीताका अध्ययन और मनन किया करते थे। अवश्य ही उनका सकाम भाव अभी दूर नहीं हुआ था, परन्तु थे वे बड़े विश्वासी। एक दिन वे गीताके प्रत्येक शब्दका क्रियात्मक अर्थ देखना चाहते थे। पाठ करते समय

भोजनादिकी चिन्ता तो साधारण विश्वासी भक्तको भी नहीं करनी चाहिये ? जो भोजनादिके लिये भगवान्‌का भरोसा न रखकर न्याय और सत्यमार्गका तथा सदाचारका त्याग कर पापकी शरण लेते हैं वे तो एक प्रकारसे नास्तिक ही हैं । कहा है—

भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः ।
योऽसौ विश्वम्भरो देवः स किं दासानुपेक्षते ॥

जब उपर्युक्त श्लोकका 'वहाम्यहम्' शब्द आया, तब ब्राह्मण सोचने लगे कि क्या भगवान् अपने भक्तके लिये आवश्यक वस्तुएँ स्वयं ढोकर उसके घर पहुँचा आते हैं ? नहीं, नहीं ! ऐसा नहीं हो सकता । भगवान् किसी दूसरे साधनसे संग्रह करा देते होंगे । यह विचारकर ब्राह्मणने 'वहाम्यहम्' का अर्थ ठीक न बैठते देख गीताके उक्त पदको काटकर उसकी जगह ऊपर 'करोम्यहम्' लिख दिया । ब्राह्मण भिक्षावृत्तिसे जीवननिर्वाह करते थे । भगवान्‌की अपार माया है; एक दिन मूसलाधार वृष्टि होने लगी । ब्राह्मणदेवता उस दिन घरसे न निकल सकनेके कारण दिनभर सपरिवार भूखे ही रहे । दूसरे दिन वर्षा बंद होनेपर ब्राह्मण भीखके लिये चले । उनके घरसे जानेके थोड़ी ही देर बाद एक खूनसे लथपथ अत्यन्त ही सुन्दर बालक ब्राह्मणके घरपर आकर ब्राह्मणीसे बोला—'पण्डितजी महाराजने यह प्रसाद भेजा है ।' ब्राह्मणी बालकके मनोहर बदनको देखकर और उसके मीठे वचन सुनकर मुग्ध हो गयी, परन्तु उसके शरीरसे खून बहता देखकर उसे बहुत ही दुःख हुआ । उसने आँसूभरे नेत्रोंसे पूछा— 'तुमको किस निठुरने मारा है ?' बालकने ब्राह्मणीके पतिका नाम लेकर कहा कि 'मुझको ब्राह्मणदेवताने मारा है ।' ब्राह्मणी तो अचरजमें डूब गयी; कहने लगी—'वे तो बड़े सीधे-सादे, अक्रोधी और परम भागवत हैं; तुम-सरीखे नयन-मन-लुभावन बालकको वे क्यों मारने लगे ?' बालकने कहा—'मैं सच कहता हूँ

'वैष्णव आहारादिके लिये व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं। जो भगवान् समस्त विश्वके सब जीवोंका भरण-पोषण करते हैं वे क्या अपने सेवकोंको कभी भूल सकते हैं?'

यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥ ४८ ॥

माँ! उन्होंने ही एक शूलसे मेरे बदनको काट डाला है, उन्होंने क्यों ऐसा किया, इस बातको तो वे ही जानें।'

इतना कहकर और प्रसाद रखकर बालक वहाँसे चल दिया; ब्राह्मणीको अन्यमनस्क होनेके कारण उसके जानेका पता नहीं लगा। वह कुछ भी न समझकर अति दुःखित चित्तसे स्वामीके घर आनेकी बाट देखने लगी। समयपर ब्राह्मण घर आये। ब्राह्मणीने विनयके साथ, किन्तु रोष और विषादभरे शब्दोंमें सारा वृत्तान्त ब्राह्मणको कह सुनाया। पण्डितजी गृहिणीकी बात सुनकर अवाक् हो गये। गीताके श्लोकपर हरतालकी कलम फेरनेकी घटनाको स्मरण कर वे व्याकुल हो उठे। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। ब्राह्मण अब समझे कि सचमुच ही भगवान् अपने विश्वासी भक्तके लिये स्वयं सिरपर ढोकर आहारादि पहुँचाते हैं। गीता श्रीभगवान्‌का अङ्ग है। गीताका श्लोक काटनेसे भगवान्‌के शरीरपर चोट लगी है। ब्राह्मण अपनी करनीपर पश्चात्ताप करते-करते मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। भगवान्‌ने उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया। कुछ समय बाद उठकर वे भगवान्‌से क्षमा-प्रार्थना करने लगे और भावविह्वल होकर गीताके चारों ओर 'वहाम्यहम्' 'वहाम्यहम्' लिखने लगे!

४८–जो कर्मफलका त्याग करता है, कर्मोंका भी त्याग करता है और तब सब कुछ त्याग कर जो निर्द्वन्द्व हो जाता है।

योगक्षेमकी चिन्ताका त्याग करनेवाला कर्मफलका त्यागी होता ही है, अथवा योगक्षेमके त्यागके लिये भी कर्मफलके त्यागकी आवश्यकता होती है। वस्तुतः अब यहाँसे प्रेमी भक्तके लक्षणोंका आरम्भ हो गया है। ये भक्तिके साधकोंके लिये आदर्श साधन हैं और सिद्ध प्रेमी भक्तोंके स्वाभाविक गुण! भक्त जो कुछ करता है वह भगवान्‌के लिये ही करता है, उसे उसका अपने लिये कुछ भी फल नहीं चाहिये। उसकी न कर्ममें आसक्ति है और न उसके फलमें; वह तो यन्त्रवत् कर्म करता रहता है। परन्तु जहाँतक उसे यह स्मरण रहता है कि मैं यन्त्र हूँ, भगवान्‌के लिये कर्म करता हूँ, वहाँतक वह कर्मफलका ही त्यागी कहा जा सकता है; कर्मका त्यागी तो तब होगा जब उसे यह भी पता नहीं रहेगा कि मैं भी कुछ करता हूँ। जब मन-बुद्धिके पूर्ण समर्पणसे भगवान् उसके अहङ्कारको सर्वथा हरण करके स्वयं ही उसके हृदयमन्दिरमें बैठकर कर्म करने-कराने लगेंगे, तब वह कर्मोंका सम्पूर्ण त्यागी होकर सर्वथा निर्द्वन्द्व हो जायगा। फिर उसे सुख-दुःख, हानि-लाभ, अपना-पराया, मैं-तू आदि द्वन्द्वोंसे कोई प्रयोजन ही नहीं रह जायगा। परन्तु जबतक ऐसी स्वाभाविक स्थिति न हो तबतक साधनरूपसे कर्मफलका त्याग और भगवद्विरोधी अथवा अनावश्यक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके निर्द्वन्द्व होनेकी चेष्टा करनी चाहिये। श्रीभगवान् कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

(गीता २ । ४५)

'हे अर्जुन ! वेद तीनों गुणोंके प्रकाशरूप संसारको प्रकाश करनेवाले हैं; अतएव निस्त्रैगुण्य अथवा असंसारी (निष्कामी), सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित, योगक्षेमकी इच्छा न करनेवाला, नित्य सत्त्वमें स्थित और परमात्मपरायण हो जाओ ।'

वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥ ४९ ॥

४९—जो वेदोंका भी भलीभाँति परित्याग कर देता है और जो अखण्ड असीम भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेता है ।

साधनकी दृष्टिसे उपर्युक्त श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोक (२ । ४५) के अनुसार तीनों गुणोंके प्रकाशरूप संसारको प्रकट करनेवाले वेदोंके त्यागसे, निष्कामी बननेका अर्थ बहुत ही ठीक है । सकाम भावका त्याग ही वेदत्याग है । परन्तु देवर्षि नारद यहाँ जिस प्रेमावस्थाका वर्णन कर रहे हैं, उस अवस्थामें तो भक्त केवल एक अविच्छिन्न अखण्ड भगवत्प्रेमके महान् सागरमें डूबकर तन्मय हो जाता है; इससे वेदोंका आश्रय स्वयमेव ही छूट जाता है, उससे फिर लौकिक-वैदिक कोई-सी भी क्रिया यथाविधि नहीं हो सकती । सारे नियमोंका अपने-आप टूट जाना ही इस प्रेमका एक नियम है । यह भी शास्त्रविधि ही है । इस स्थितिमें वेद अपने अनुयायीको वेदोंका परमफल प्राप्त करते देखकर, उसकी चरम तृप्तिपर स्वयं तृप्त होकर उसे छोड़

देते हैं । यह वेदत्याग तिरस्कारमूलक नहीं है, वरं तृप्तिमूलक है । वह जान-बूझकर वेदोंको नहीं छोड़ता, वेद ही उसे पूर्णकाम समझकर अपना आधिपत्य उसपरसे उठा लेते हैं । इस अवस्थामें वह प्रेमी भक्त विधि-निषेधमय वेदोंको लाँघकर बस, केवल एक अनिर्वचनीय हरिप्रेममें ही मतवाला रहता है; वह भगवत्प्रेमकी एक जीती-जागती मूर्ति होता है । स्वयं भगवान् ही उसके शरीरमें दिव्य प्रेमके रूपमें प्रकट होकर लीला करते हैं ।

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ॥ ५० ॥

५०-वह तरता है, वह तरता है, वह लोकोंको तार देता है ।

देवर्षि नारद आनन्दमें भरकर पुकार रहे हैं कि जो इस प्रकार भगवान्के प्रेममें मतवाला हो जाता है वह स्वयं तो तर ही गया, अपि तु वह समस्त लोकोंको भी तार देता है । वही सच्चा तरन-तारन होता है । भगवान्ने भी श्रीमद्भागवतमें कहा है—'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति'—ऐसा मेरा भक्त त्रिभुवनको पवित्र कर देता है ।

छियालीसवें सूत्रमें मायासे कौन तरता है, यह प्रश्न करके यहाँतक उसका उत्तर दिया गया । चार सूत्रोंमें प्रेमके साधन और प्रेमियोंके लक्षण बतलाये गये । अब आगे उस प्रेमका रूप बतलाया जायगा, जिसको पाकर प्रेमी महानुभावगण इस दुर्लभ स्थितिको स्वाभाविक गुणोंके रूपमें अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं ।

प्रेमरूपा भक्ति और गौणी भक्तिका स्वरूप

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ ५१ ॥

५१—प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है।

प्रेम और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं; जिस प्रकार वाणीसे ब्रह्मका वर्णन असम्भव है, वेद 'नेति-नेति' कहकर चुप हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रेमका वर्णन भी वाणीद्वारा नहीं हो सकता। संसारमें भी हम देखते हैं कि प्रिय वस्तुके मिलनेपर, उसका समाचार पानेपर, उसके स्पर्श, आलिङ्गन और प्रेमालापका सुअवसर मिलनेपर हृदयमें जिस आनन्दका अनुभव होता है, उसका वर्णन वाणी कभी नहीं कर सकती। जिस प्रेमका वर्णन वाणीके द्वारा हो सकता है, वह तो प्रेमका सर्वथा बाहरी रूप है। प्रेम तो अनुभवकी वस्तु है। भगवान् श्रीराम लंकामें स्थित जगज्जननी जानकीजीको सँदेशा कहलाते हैं—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

प्रेमका अनुभव है मनमें, और मन रहता है सदा अपने प्रेमीके पास। फिर भला, मनके अभावमें वाणीको यत्किञ्चित् भी वर्णन करनेका असली मसाला कहाँसे मिले? अतएव प्रेमका जो कुछ भी वर्णन मिलता है वह केवल सांकेतिकमात्र है—बाह्य है। प्रेमकी प्राप्ति हुए बिना तो प्रेमको कोई जानता नहीं, और प्राप्ति होनेपर वह अपने मनसे हाथ धो बैठता है। जलमें मुखसे शब्दका उच्चारण तभीतक होता है जबतक कि मुख जलसे बाहर रहता है, जब मनुष्य अतलतलमें डूब जाता है तब तो डूबनेवालेकी लाशका

पता लगना भी कठिन होता है। इसी प्रकार जो प्रेमसमुद्रमें डूब चुका है, वह कुछ कह ही नहीं सकता। और ऊपर-ऊपर डुबकियाँ मारने और डूबने-उतरानेवाले जो कुछ कहते हैं सो केवल ऊपर-ऊपरकी ही बात कहते हैं—

डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान।
गहरौ प्रेम-समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान॥

मूकास्वादनवत् ॥ ५२ ॥

५२–गूँगेके स्वादकी तरह।

जैसे गूँगा गुड़ खाकर प्रसन्न होता है, हँसता है, परन्तु गुड़का स्वाद नहीं बतला सकता; इसी प्रकार प्रेमी महात्मा प्रेमका अनुभव कर आनन्दमें निमग्न हो जाते हैं, परन्तु अपने उस अनुभवका स्वरूप दूसरे किसीको भी बतला नहीं सकते। इस प्रेममें तन्मयता होती है। इसलिये प्रेमी यह नहीं जानता कि मैं क्या हूँ और क्या जानता हूँ। इसीसे श्रीराधाने एक समय कहा है कि 'हे सखि! मैं कृष्णप्रेमकी बात कुछ भी नहीं जानती, नहीं समझती, और जो कुछ जानती हूँ उसे प्रकट करनेयोग्य भाषा मेरे पास नहीं है। मैं तो इतना ही जानती हूँ कि जब हृदयके अंदर उनका स्पर्श होता है, तभी मेरा सारा ज्ञान चला जाता है।'

प्रकाशते* क्वापि पात्रे ॥ ५३ ॥

५३–किसी विरले योग्य पात्रमें (प्रेमी भक्तमें) ऐसा प्रेम प्रकट भी होता है।

* पाठभेद "प्रकाश्यते"।

यह तो निश्चित है कि वाणीद्वारा प्रेमका स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता, परन्तु जब कोई प्रेममदसे छके हुए भाग्यवान् महापुरुष तन-मनकी सुधि भुलाकर दिव्य उन्मत्तवत् चेष्टा करने लगते हैं तब प्रेमका कुछ-कुछ प्रकाश लोगोंको प्रकट दीखने लगता है। उस समय ऐसे महात्माकी केवल वाणीसे और नेत्रोंसे ही नहीं, शरीरके रोम-रोमसे प्रेमकी किरणें अपने-आप ही निकलने लगती हैं। यह प्रेमका प्राकट्य साक्षात् भगवान्‌का ही प्रकाश है। ऐसा प्रकाश किसी विरले ही प्रेमी महापुरुषमें होता है।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमान-मविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ५४ ॥

५४–यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है।

किसी गुणको देखकर जो प्रेम होता है वह तो गुण न दीखनेपर नष्ट हो जा सकता है। परन्तु असली प्रेममें गुणोंकी अपेक्षा नहीं है। प्रेमीको अपने प्रेमास्पदमें गुण-दोष देखनेका अवकाश ही कहाँ मिलता है, वहाँ तो स्वाभाविक सहज प्रेम होता है। अथवा यों कह सकते हैं कि प्रेम गुणातीत होता है। वह तीनों गुणोंके दायरेसे परेकी वस्तु है।

प्रेममें कुछ भी कामना नहीं होती, क्योंकि प्रेममें प्रेमास्पदको सुखी देखनेकी एक इच्छाको छोड़कर अन्य किसी स्वार्थकी वासना ही नहीं रहती। उसका तो परम अर्थ केवल प्रेमास्पद ही है! जहाँ कुछ

भी पानेकी वासना है वहाँ तो प्रेमका पवित्र आसन कुटिल कामके द्वारा कलङ्कित हो रहा है अतएव प्रेममें कामनाका लेश भी नहीं है।

सच्चा प्रेम कभी घटता तो है ही नहीं, वरं वह सदा बढ़ता ही रहता है। प्रेममें कहीं परिसमाप्ति नहीं है। प्रेमीका सदा यही भाव रहता है कि मुझमें प्रेमकी कमी ही है। किसी भी अवस्थामें उसे अपना प्रेम बढ़ा हुआ नहीं दीखता, अतएव उसकी प्रत्येक चेष्टा स्वाभाविक ही प्रेम बढ़ानेकी होती है। इस विच्छेदरहित प्रेमकी सतत वृद्धिका क्रम कभी टूटता ही नहीं। यह विशुद्ध प्रेम दिन दूना, रात चौगुना बढ़ता ही रहता है।

प्रेम सदा बढ़िबौ करै, ज्यों ससिकला सुबेष।
पै पूनौं यामें नहीं, तातें कबहुँ न सेष॥

यह प्रेम हृदयकी गुप्त गुहामें रहनेवाला होनेके कारण सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर होता है और केवल अनुभवमें ही आता है। प्रेमी रसखानजी मानो इसी सूत्रका अनुवाद करते हुए कहते हैं—

बिनु जोबन गुन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध, कामनाते रहित, प्रेम सकल रसखानि॥
अति सूच्छम, कोमल अतिहि, अति पतरो, अति दूर।
प्रेम कठिन सबते सदा, नित इकरस भरपूर॥
रसमय स्वाभाविक, बिना स्वारथ, अचल महान।
सदा एक रस बढ़त नित सुद्ध प्रेम रसखान॥

यह प्रेम परम आनन्दमय है और आनन्दमय श्रीहरिके साथ मिलाकर प्रेमीको आनन्दमय बना देता है।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति* तदेव चिन्तयति ॥ ५५ ॥

५५—इस प्रेमको पाकर प्रेमी इस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है।

परम प्रेमके दिव्य रसमें डूबा हुआ प्रेमानन्दमय प्रेमी सर्वत्र अपने प्रेममय, रसमय प्रियतमको ही देखता है। उसे कहीं दूसरी वस्तु दीखती ही नहीं। ऐसी ही स्थितिमें एक गोपी कहती है—

जित देखौं तित स्याममई है।
स्यामकुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
मैं बौरी, की लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद स्याम काम बिजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनो स्यामता बेल बई है॥
श्रुतिको अच्छर स्याम देखियत, दीपसिखापर स्यामतई है।
नर देवनकी कौन कथा है, अलख ब्रह्म छबि स्याममई है॥

दूसरा भक्त कहता है—

बाटनमें घाटनमें बीथिनमें बागनमें,
बृच्छनमें बेलिनमें बाटिकामें बनमें।
दरनमें दिवारनमें देहरी दरीचनमें,
हीरनमें हारनमें भूषनमें तनमें॥
काननमें कुंजनमें गोपिनमें गायनमें,
गोकुलमें गोधनमें दामिनमें घनमें।

* किसी-किसी प्रतिमें "तदेव भाषयति" नहीं है।

जहँ-जहँ देखौं तहाँ स्याम ही दिखाई देत,
सालिगराम छाइ रह्यो नैननमें मनमें ॥

कहि न जाय मुखसौं कछू स्याम-प्रेमकी बात।
नभ जल थल चर अचर सब स्यामहि स्याम दिखात ॥
ब्रह्म नहीं, माया नहीं, नहीं जीव, नहिं काल।
अपनीहू सुधि ना रही, रह्यो एक नँदलाल ॥
को कासों केहि बिधि कहा, कहै हृदैकी बात।
हरि हेरत हिय हरि गयो हरि सर्वत्र लखात ॥

ऐसी अवस्थामें उसके कानमें जो कुछ भी आवाज आती है वह केवल प्रेममयके प्रेमसंगीतकी स्वरलहरी ही होती है; वह सर्वदा उसकी मुरलीकी मीठी तानमें मस्त रहता है। इसी प्रकार उसके मुखसे भी प्रेममयको छोड़कर दूसरा शब्द नहीं निकलता। वह प्रेममयका गुण गाते-गाते कभी थकता ही नहीं, बात-बातमें उसे केवल दिव्य प्रेमरसामृतका ही अनुपम स्वाद मिलता रहता है और वह अतृप्त रसनासे सदा उसी अमृतरसपानमें मत्त रहता है। उसके चित्तमें तो दूसरेके लिये स्थान ही नहीं रह गया। वहाँ एकमात्र प्रियतमका ही अखण्ड साम्राज्य और पूर्ण अधिकार है। ऐसा जरा-सा भी स्थान नहीं, जहाँ किसी दूसरेकी कल्पनाकी स्मृति छायारूपसे भी आ सके। चित्त साक्षात् प्रियतमके प्रेमका स्वरूप ही बन जाता है; इस अवस्थाका अनुमान करते हुए कवि कहता है—

कानन दूसरो नाम सुनै नहिं एकहि रंग रँगो यह डोरो।
धोखेहुँ दूसरो नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो ॥
ठाकुर चित्तकी वृत्ति यहै, हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरो।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो ॥

समस्त अङ्ग केवल उसीका अनुभव कर रहे हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उसीको विषय करती हैं। आँखें अहर्निश सम्पूर्ण विश्वको श्याममय देखती हैं। कान सदा उसीकी मधुरातिमधुर शब्द-ब्रह्ममयी वेणुध्वनि सुनते हैं। नासिका नित्य-निरन्तर उसी नटवरके अङ्गसौरभको ही सूँघती है। जिह्वा अविच्छिन्नरूपसे उसी प्रेमसुधाका आस्वादन करती है और शरीर सर्वदा उसी अखिल सौन्दर्यमाधुर्यरसाम्बुधि रसराज परम सुखस्पर्श आनन्द-कन्द श्रीनन्दनन्दनके अनुपम स्पर्श-सुखका अनुभव करता है। आकाशमें वही शब्द है, वायुमें वही स्पर्श है, अग्निमें वही ज्योति है, जलमें वही रस है और पृथ्वीमें वही गन्ध बना हुआ है। सबमें वही भरा है। सबमें वही अपनी अनोखी रूपमाधुरीकी झाँकी दिखा रहा है। सर्वत्र प्रेम-ही-प्रेम, आनन्द-ही-आनन्द है। समस्त विश्व प्रेममय, आनन्दमय, रसमय या श्रीकृष्णमय है। सब कुछ आनन्दसे और सौन्दर्य-माधुर्यसे भरा है। दृश्य, द्रष्टा सभी मधुर हैं; हम-तुम सभी मधुर हैं। उस परमानन्द-रस-सुधामय मधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है। 'मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर्नः, सन्त्वोषधीः, मधुमत् पार्थिवं रजः' सर्वत्र मधु-ही-मधु। इस प्रकार प्रेमी भक्तकी दृष्टिमें सर्वत्र प्रेममय भगवान् हैं और भगवान्‌की दृष्टिमें भक्त। भगवान्‌ने कहा ही है—

> **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
> **तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥**
>
> (गीता ६। ३०)

'जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, न कभी मैं उसकी आँखोंसे ओझल होता हूँ और न वह मेरी आँखोंसे ओझल होता है ।'

इस अवस्थामें प्रेमी भक्त जिस नित्य महान् दिव्य प्रेमामृत-रससागरमें मग्न रहता है, वह सर्वथा अनिर्वचनीय है । यही प्रेमाभक्ति या पराभक्तिका स्वरूप है । यही महान् भूमानन्द है, इसी सर्वव्यापी भूमानन्दके साथ अल्प सुखका तारतम्य दिखलाती हुई श्रुति कहती है—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।

(छान्दोग्य० ७ । २४ । १)

'जहाँ दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता वही भूमा है । और जहाँ दूसरेको देखता है, दूसरेको सुनता है, दूसरेको जानता है वह अल्प है । जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है वह मरा हुआ है ।' इसीलिये प्रेम सदा मधुर, अविनाशी, सनातन और सत्य है ।

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा ॥ ५६ ॥

५६–गौणी भक्ति गुणभेदसे अथवा आर्तादिभेदसे तीन प्रकारकी होती है ।

पिछले सूत्रतक उस परा या मुख्या भक्तिका विवेचन हुआ जिसमें प्रेमी भक्त उस प्रेमाभक्तिसे अपने प्रियतम भगवान्‌के प्रेममय स्वरूपको प्राप्त हो जाता है । इसीको श्रीमद्भागवतमें

अहैतुकी–निर्गुण भक्ति तथा गीतामें ज्ञानीकी भक्ति कहा है। अहैतुकी भक्तिमें भक्तकी चित्तवृत्ति और कर्मगतिका प्रवाह अविच्छिन्नरूपसे स्वाभाविक ही भगवान्‌की ओर बहता रहता है अर्थात् उसका चित्त निरन्तर निष्काम अनन्य प्रेमभावसे भगवान्‌में लगा रहता है और उसकी समस्त क्रियाएँ श्रीभगवान्‌के लिये ही होती हैं (भागवत ३ । २९ । ११-१२) और गीतोक्त दुर्लभ तत्त्वज्ञानी महात्मा भक्त भी सब कुछ वासुदेव ही देखता है। (अध्याय ७ । १९) ये दोनों तो भगवत्स्वरूप ही हैं। अब यहाँ इस भक्तिकी अपेक्षा निम्नश्रेणीकी गौणी भक्तिका वर्णन किया जाता है। यह गौणी भक्ति सात्त्विकी, राजसी और तामसी-भेदसे अथवा आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी-भेदसे तीन प्रकारकी है।

जो भक्ति पापनाशके उद्देश्यसे सब कर्मफलोंको भगवान्‌में समर्पण करनेके रूपमें अथवा जिसमें पूजन करना कर्तव्य है, यह समझकर भेद-दृष्टिसे पूजा की जाती है, वह सात्त्विकी है (श्रीमद्भागवत ३ । २९ । १०)।

जो भक्ति विषय, यश और ऐश्वर्यकी कामनासे भेददृष्टि-पूर्वक केवल प्रतिमादिके पूजनके रूपमें ही की जाती है वह राजसी है (श्रीमद्भागवत ३ । २९ । ९)।

जो भक्ति क्रोधसे हिंसा, दम्भ और मत्सरताको लेकर भेद-दृष्टिसे की जाती है वह तामसी है (श्रीमद्भागवत ३ । २९ । ८)।

इसी तरह आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी पुरुष त्रिविध उपासनासे तीन प्रकारकी भक्ति करते हैं; अर्थात् भक्तोंके भाव-भेदसे गौणी भक्तिके तीन भेद होते हैं।

गौणी भक्तिके साधनोंसे यद्यपि साक्षात् भगवत्प्राप्ति नहीं होती, तथापि इस गौणी भक्तिके साधक भी सुकृती ही होते हैं और उन्हें भी भगवत्कृपासे इसका अनुष्ठान करते-करते अन्तमें भगवत्प्राप्तिकी मुख्य साधनस्वरूपा या साक्षात भगवत्स्वरूपा प्रेमाभक्तिकी प्राप्ति होती है। भगवान्की भक्तिमें यही विशेषता है कि इसका अन्तिम फल दुर्लभ भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही है। इसीसे गौणी भक्तिको भी श्रेष्ठ और पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा ही होनेवाली माना गया है। क्योंकि भक्तिमात्रमें ही भगवान्का भजन, भगवान्का आश्रय, भगवान्का ध्यान किसी-न-किसी रूपमें रहता है; और भगवद्भजन, भगवदाश्रय तथा भगवान्के ध्यानका फल सीधा भगवत्प्राप्ति ही होता है। अतएव किसी प्रकारसे भी हो, भगवान्की भक्ति मनुष्यको अवश्य ही करनी चाहिये। परन्तु जहाँतक हो सके सात्त्विकी भक्ति अथवा त्रिभुवनके वैभवको भी अनर्थ एवं भगवान्को ही परम अर्थ—परम धन मानकर उसीके प्रेमकी प्राप्तिके लिये सच्चे अर्थार्थिकि भावसे निष्काम भक्ति करनी चाहिये।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥५७॥

५७-(उनमें) उत्तर-उत्तर क्रमसे पूर्व-पूर्व क्रमकी भक्ति कल्याणकारिणी होती है।

तामसीकी अपेक्षा राजसी और राजसीकी अपेक्षा सात्त्विकी भक्ति उत्तम है। इसी प्रकार अर्थार्थी भक्तकी अपेक्षा जिज्ञासुकी और इन दोनोंकी अपेक्षा आर्त्तकी भक्ति विशेष कल्याणकारिणी होती है।

भक्तिकी सुलभता और महत्ता

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ ५८ ॥

५८—अन्य सबकी अपेक्षा भक्ति सुलभ है।

इससे पहले भक्तिकी महिमा और कर्म, योग तथा ज्ञानादिकी अपेक्षा उसकी श्रेष्ठताका वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार यह दिखलाते हैं कि इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ होनेपर भी भक्तिकी प्राप्ति अन्यान्य फलोंकी अपेक्षा सहज और सुलभ है। भक्तिकी प्राप्तिमें न विद्याकी आवश्यकता है न धनकी, न श्रेष्ठ कुल प्रयोजनीय है और न उच्च वर्णाश्रम, न वेदाध्ययनकी आवश्यकता है न कठोर तपकी, न विवेककी जरूरत है न कठिन वैराग्यकी। आवश्यकता है केवल सरल भावसे भगवान्‌की अपार कृपापर विश्वास करके उनका सतत प्रेमभावसे स्मरण करनेकी। फिर सुलभता तो प्रत्यक्ष ही दीखने लगती है। भगवत्कृपा सबपर सदा-सर्वदा है। मनुष्य विश्वास नहीं करता, इसीसे वह वञ्चित रह जाता है। भगवान्‌ने तो गीतामें डंकेकी चोट कहा है कि 'मैं सब प्राणियोंका सुहृद् हूँ, और जो मुझे सुहृद् जान लेता है वह उसी क्षण शान्ति पा जाता है'—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
(५ । २९)

मनुष्यको चाहिये कि वह भगवत्कृपापर विश्वास करके यह मान लें कि मैं भगवत्कृपाके समुद्रमें डूब रहा हूँ। मेरे ऊपर-नीचे, इर्द-गिर्द, भूत-भविष्यत्—सब स्थानों और सब कालमें भगवत्कृपा भरपूर है। ऐसा मानते ही वह उस भगवत्कृपाके प्रतापसे तुरंत पाप-तापसे मुक्त होकर भगवान्‌की भक्तिका अधिकारी हो जाता है। भगवत्कृपा-

पर इस प्रकार विश्वास और निश्चय करके भगवान्‌के अनन्य स्मरण-का अभ्यास किसी भी अवस्थामें बालक, वृद्ध, युवा, स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र कोई भी कर सकता है। इसमें न कुछ छोड़ना है और न ग्रहण करना है। सदा सबपर भगवत्कृपा होनेपर भी हमें जो विश्वास नहीं है, बस, उस विश्वासको स्थिर कर लेना है। फिर भक्तिकी प्राप्तिके सभी साधन अपने आप सहज ही सिद्ध हो जायँगे—('तस्याहं सुलभः पार्थ'—गीता ८।१४)। भक्ति किसी और साधनसे नहीं मिलती, यह भजनसे ही मिलती है।

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात् ॥ ५९ ॥

५९—क्योंकि भक्ति स्वयं प्रमाणरूप है, इसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।

भक्तिके मार्गपर चलनेवाले पुरुषोंको भक्तिसुखका प्रमाण अपने आप ही मिलता रहता है। उन्हें स्वयमेव अनुभव होता रहता है, दूसरे किसी प्रमाणकी इसमें आवश्यकता नहीं है। पतिसुखके आनन्दका अनुभव भार्या बननेपर ही मिल सकता है; यह कुमारी कन्याको समझानेकी बात नहीं है। इसी प्रकार भक्तिसुखका अनुभव भक्तोंको ही होता है, यह कहकर बतलानेकी बात नहीं है। जो पुण्यात्मा महानुभाव सब कामनाओंका त्याग कर एकमात्र भगवत्प्रेमकी कामनासे ही भगवत्कृपाका आश्रय लेकर भगवान्‌का सदा-सर्वदा प्रेमपूर्वक पुलकित चित्तसे भजन करते हैं, वे ही भक्तिसुखका अनुभव करते हैं।

शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च ॥ ६० ॥

६०—भक्ति शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा है।

शान्ति और परम आनन्द साक्षात् भगवान्का स्वरूप है। अपने प्रेमरूपमें स्वयं भगवान् ही अवतीर्ण होते हैं, इसीलिये यह भगवत्प्रेम भी शान्ति और परमानन्दस्वरूप ही है। आनन्दमय भगवान् स्वयं ही अपनी ह्लादिनी नाम्नी आनन्दशक्तिको निमित्त बनाकर प्रेम और प्रेमिकके रूपमें प्रकट होते हैं और स्वयं ही प्रेमास्पद बनकर अपने आनन्दका आप ही उपभोग करते हैं। यही उनकी आनन्दलीला है। यहाँपर यह समझ लेना चाहिये कि जिन भगवान्की भक्ति या प्रेम शान्तिरूप और परमानन्दरूप है, वे भगवान् निर्गुणवादियोंद्वारा माने हुए प्रकृतिसम्भव सत्त्व, रज, तमरूप त्रिगुणोंसे युक्त 'सगुण ब्रह्म' नहीं हैं। भगवान्का दिव्य तनु उनके अपने आनन्दांश अपनी योगमायाके निमित्तसे नित्य ही प्रकट है। इसीलिये आत्माराम मुनि, जीवन्मुक्त महापुरुष, व्यास, नारद, शुकदेव, जनक, सनकादि महात्मा उनके एक-एक दिव्य गुण, दिव्य आभूषण, दिव्य गन्ध, दिव्य मुरली-ध्वनि और दिव्य सौन्दर्यपर मुग्ध हो जाते हैं। यदि भगवान्में इस जगत्प्रसविनी, आवरण करनेवाली मलिना मायाके ही गुणोंका विकास होता या इसीसे निर्मित उनका शरीर होता तो मायाकी ग्रन्थिको काटे हुए ब्रह्मस्वरूप महात्माओंका उनकी ओर इतना आकर्षण कभी नहीं होता। निर्गुणवादी जिस भगवत्स्वरूपको शुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म कहते हैं, और वेद जिसे 'नेति-नेति' कहकर सङ्केतसे समझाना चाहते हैं, वही मायातीत विज्ञानानन्दघन परमात्मा भक्तोंके प्रियतम भगवान् हैं। उनको शान्ति और आनन्दके समुद्र कहनेसे भी उनका यथार्थ वर्णन नहीं होता। उनका जो प्रेम है, वही परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप है। इसी प्रेमका वर्णन देवर्षि नारदजी इस सूत्रमें कर रहे हैं।

भक्तिके साधन और अन्तराय

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोक-वेदत्वात्* ॥६१॥

६१—लोकहानिकी चिन्ता (भक्तको) नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह (भक्त) अपने आपको और लौकिक-वैदिक (सब प्रकारके) कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर चुका है।

भक्त सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर चुकता है, इसलिये उनके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी चिन्ता करनेकी उसे क्या आवश्यकता है? उसको तो केवल एक प्रियतम भगवान्‌के चिन्तनकी ही चिन्ता रहनी चाहिये। स्त्री, पुत्र, धन, जन, मानादि पदार्थ रहें या चले जायँ, उसे इनकी कोई परवा नहीं; क्योंकि वह तो इन्हें पहले ही भगवान्‌के समर्पण करके सर्वथा अकिञ्चन हो चुका है। फिर उसके पास इनकी चिन्ता करनेके लिये समय और चिन्ता करनेवाला चित्त भी कहाँ है? उसके चित्तको तो एकमात्र चिन्ताहरण चिन्तामणिकी चिन्ताने चुरा लिया है। वे चतुर चौरचूडामणि कभी उसके चित्तको वापस देना ही नहीं चाहते, फिर वह चित्तके अभावमें किसी हानिकी चिन्ता ही कैसे करे? अतएव इस पथके पथिकको लोकहानिकी कोई चिन्ता

---

* पाठभेद 'लोकवेदशीलत्वात्'

नहीं करनी चाहिये। उसे तो सबके सार अर्थ श्रीभगवान्का ही चिन्तन करना चाहिये। और भक्तके हृदयमें ऐसा ही होता भी है।

न तदसिद्धौ* लोकव्यवहारो हेयः किन्तु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव ॥ ६२ ॥

६२—(परन्तु) जबतक भक्तिमें सिद्धि न मिले तबतक लोकव्यवहारका त्याग नहीं करना चाहिये, किन्तु फल त्याग कर (निष्कामभावसे) उस भक्तिका साधन करना चाहिये।

प्रेमकी प्राप्ति होनेपर लौकिक (और वैदिक) कर्म छूट जाते हैं, जान-बूझकर उनका स्वरूपसे त्याग नहीं करना पड़ता। समर्पणका अर्थ उनका मनसे समर्पण ही है। फिर जब प्रेमकी उच्च दशा प्राप्त होती है तब विधि-निषेधके परे पहुँच जानेके कारण ये सब कर्म स्वतः ही उसे विधिके बन्धनसे मुक्त कर अलग हो जाते हैं। उस स्थितिका यही नियम है। परन्तु जो जान-बूझकर प्रेमके नामपर शास्त्रविधिका त्याग करता है, उसे भक्तिकी सिद्धि सहजमें नहीं होती। इसलिये सूत्रकार कहते हैं कि लोकव्यवहारका त्याग जान-बूझकर मत करो। फलकी कामना छोड़कर कर्म करते रहो। निष्काम कर्म करनेवाला स्वयमेव ही लोकहानिकी चिन्तासे छूट जाता है और उसके वे भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे किये हुए लौकिक कर्म भक्तिकी प्राप्तिमें साधक बन जाते हैं।

---

* पाठभेद 'तत्सिद्धौ' है।

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं* न श्रवणीयम् ॥६३॥

६३—स्त्री, धन, नास्तिक और वैरीका चरित्र नहीं सुनना चाहिये ।

६२ वें सूत्रमें लोकव्यवहारका त्याग नहीं करनेकी आज्ञा दी गयी है, अतएव लोकव्यवहार तो करना चाहिये; परन्तु प्रेमपथके पथिकको लोकव्यवहारमें भी स्त्री, धन, नास्तिक और शत्रुके चरित्र-श्रवणसे तो बचना ही चाहिये ।

(१) जिसका मन स्त्रीकी चिन्तामें लग गया, वह भगवान्‌की चिन्ता किसी प्रकार नहीं कर सकता । स्त्रीकी-चिन्तासे कामकी उत्पत्ति होती है और काम प्रेममार्गमें सबसे बड़ा बाधक है । स्त्री-सम्बन्धी बातोंके सुनने, पढ़ने और देखनेसे ही स्त्री-चिन्तन होता है । अतएव साधकको चाहिये कि स्त्रीसम्बन्धी बातचीत न करे, स्त्री-सम्बन्धी बात या गान न सुने, स्त्रीसम्बन्धी चित्र न देखे, स्त्रीसम्बन्धी पुस्तक या अन्य साहित्य न पढ़े, ऐसे नाटक, सिनेमा आदि न देखे, स्त्रीचरित्रपर कुछ भी आलोचना न करे, स्त्रियोंके सम्बन्धमें लेखादि न लिखे, स्त्रियोंमें रहे नहीं और स्त्रियोंसे अनावश्यक मिले नहीं । जो साधक गृहस्थ हों उन्हें अपनी विवाहिता पत्नीके सिवा यथासाध्य अन्य स्त्रियोंसे मिलनेसे बचना चाहिये । स्त्रीसम्बन्धी चर्चा करना-सुनना, स्त्रियोंके चित्रादि देखना तो सभीके लिये हानिकारक है । श्रीमद्भागवतमें तो कहा है—

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥

(३ । ३१ । ३५)

---

* पाठभेद 'स्त्रीधननास्तिकचरित्रं'

'स्त्रियोंके सङ्गसे और स्त्रियोंका सङ्ग करनेवालोंके सङ्गसे मनुष्यको जैसा मोह और बन्धन प्राप्त होता है वैसा अन्य किसीके भी सङ्गसे नहीं होता।' आगे चलकर पञ्चम स्कन्धमें स्त्रीमें आसक्त रहनेवाले पुरुषोंकी सङ्गतिको 'नरकका द्वार' बतलाया है। जैसे पुरुषोंके लिये स्त्रीका सङ्ग त्याज्य है, इसी प्रकार स्त्रियोंके लिये भी पुरुषोंका सङ्ग सर्वथा त्याज्य है।

(२) धनके चिन्तनसे लोभकी उत्पत्ति होती है। जहाँ चित्तमें धनका लोभ जाग्रत् हुआ, वहीं न्यायान्यायकी बुद्धि मारी जाती है और मनुष्य सत्पथको त्याग कर अन्यायके मार्गपर चलने लगता है। अतएव धन और धनियोंकी भोग और गर्वभरी बातें नहीं सुननी-देखनी चाहिये।

(३) जिनका ईश्वर और शास्त्रोंपर विश्वास नहीं है, वे ही नास्तिक हैं। ईश्वरका अस्तित्व न माननेवाले नास्तिकोंके समान जगत्के जीवोंका शत्रु शायद ही कोई है। 'इसमें क्या रक्खा है? उसमें क्या है? ईश्वर केवल ढोंग है, किसने ईश्वरको देखा है? आत्मा तो कल्पनामात्र है।' ऐसी बातें बकनेवाले और ईश्वर तथा शास्त्रोंकी निन्दा करनेवाले कुतर्कियोंका सङ्ग करने तथा उनके चरित्र सुननेसे ईश्वरमें अश्रद्धा पैदा होती है और ईश्वरमें अश्रद्धाके समान पतनका साधन और कोई-सा भी नहीं है। अतएव नास्तिकोंसे सदा बचना चाहिये।

(४) वास्तवमें भक्तके मन उसका कोई भी शत्रु नहीं है। जो सब जगत्में अपने प्राणाराम परमात्माको व्याप्त देखता है, जो जगत्को श्रीकृष्णमय देखता है, वह कैसे किसको अपना वैरी मान सकता है। देवदेव श्रीमहादेवजीने कहा है—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

परन्तु जबतक भक्तिकी सिद्धि न हो, तबतक साधकको ऐसी भावना करनी चाहिये और मन-ही-मन यह निश्चय करना चाहिये कि सब कुछ मेरे प्रभुका ही स्वरूप है। ऐसी अवस्थामें यदि कोई दूसरा मनुष्य भ्रमवश साधकसे द्वेष या वैर रक्खे तो उसकी उन वैरसम्बन्धी बातोंको, जहाँतक हो, सुनना ही नहीं चाहिये। क्योंकि उनके सुननेसे क्रोध उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। अतएव अपनी ओरसे तो अपने न जीते हुए मनके सिवा किसीको शत्रु माने ही नहीं, और दूसरा कोई शत्रुता रखता हो तो उसपर भी विचार न करे।

स्त्रीके चिन्तनसे काम, धनके चिन्तनसे लोभ, नास्तिकके चिन्तनसे ईश्वरमें अविश्वास और वैरीके चिन्तनसे क्रोध उत्पन्न होता है। अतएव इन चारोंके चरित्रको यथासाध्य सुनना ही नहीं चाहिये।

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥ ६४ ॥

६४—अभिमान, दम्भ आदिका त्याग करना चाहिये।

इसके पहलेके सूत्रमें स्त्री, धन, नास्तिक, वैरीका चरित्र न सुननेका आदेश दिया गया है। परन्तु वैसा करके यह नहीं मान लेना चाहिये कि मैं कामिनी-काञ्चनका त्यागी हूँ, मैं परम आस्तिक हूँ, मैं अजातशत्रु हूँ। अभिमान सर्वथा पतनका हेतु है। सम्पत्ति, सन्तति, शक्ति, स्वास्थ्य, विद्या, बुद्धि, कुल, वर्ण,

आश्रम, आचार, रूप, पद, पुरुषार्थ आदि किसी भी वस्तुका अभिमान नहीं होना चाहिये। जो कुछ सद्वस्तु या सद्गुण प्राप्त हों, अथवा साधन ठीक चलता रहे तो उसमें भगवान्‌की कृपाको ही कारण समझना चाहिये। अभिमानसे बहुत बड़ी हानि होती है। अतएव अभिमानका सर्वथा त्याग करना चाहिये। यहाँतक कि निरभिमानताके अभिमानको भी छोड़ देना चाहिये। अभिमान-नाशका एक उत्तम उपाय दीनता, विनय और नम्रता है। नमन-भक्तिसे भी अभिमानका नाश होता है। इसी प्रकार दम्भका भी त्याग करना चाहिये। अपनेमें जो गुण न हों, धन-मानके लोभसे या स्वभावदोषसे उन गुणोंको दिखानेकी चेष्टा करना; बाहरसे धर्मात्मा, भक्त, त्यागी बननेका ढोंग करना दम्भ कहलाता है। दाम्भिक पुरुषका साधनपथ बहुत बुरी तरहसे रुक जाता है। वह ऊपरसे अपना कपटवेष बनाये रखनेमें ही अपनी समस्त विद्या, बुद्धि और क्रियाकुशलताको समाप्त कर देता है। निरभिमानता और सरलता—ये दो भक्तिके साधनमें परम सहायकरूप हैं और अभिमान एवं दम्भ महान् बाधक। ये दोनों आसुरी सम्पदाके दुर्गुण हैं। इनके साथ 'आदि' शब्द जोड़कर सूत्रकारने आसुरी सम्पदाके* अन्यान्य दुर्गुणोंकी तरफ इशारा किया है। अतएव सभी आसुरी दुर्गुणोंका त्याग करना चाहिये।

* श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें श्लोक७से२० तक श्रीभगवान्‌ने आसुरी सम्पत्तिका जो वर्णन किया है उसका भावार्थ इस प्रकार है—

आसुरी मनुष्य धर्माधर्मविषयक प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते, इसलिये उनमें न पवित्रता है, न आचार है और न सत्य ही रहता है। वे

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥६५॥

६५–सब आचार भगवान्‌के अर्पण कर चुकनेपर यदि काम, क्रोध, अभिमानादि हों तो उन्हें भी उस (भगवान्) के प्रति ही करना चाहिये ।

जब सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दिया तो फिर काम, क्रोधादिका अर्पण दूसरे किसको किया जाय । प्रियतम भगवान् जैसे

आसुरी मनुष्य कहते हैं कि यह जगत् असत्य, अप्रतिष्ठ (धर्माधर्मव्यवस्थासे रहित), ईश्वररहित और अन्योन्यसम्भूत है अर्थात् स्त्रीपुरुषमिथुनजनित है । इस जगत्‌का और कोई कारण नहीं, यह केवल स्त्री-पुरुषके कामजनित संयोगसे ही उत्पन्न है । वे सब अल्पबुद्धि मनुष्य इस प्रकारकी दृष्टिका आश्रय करके मलिनचित्त, उग्रकर्मा और अहितकारी होकर जगत्‌के विनाशके लिये ही जन्म ग्रहण करते हैं । वे दुष्पूरणीय (किसी प्रकारसे भी पूरी न हों ऐसी) कामनाओंका आश्रय करके दम्भ, अभिमान और मदके वशीभूत हो मोहवश असदाग्रह (इस षड्यन्त्रसे अमुक मनोरथ पूर्ण हो जायगा, ऐसी वेद-शास्त्रविरुद्ध दुराशा) स्वीकार कर अपवित्र व्रत (मद्य-मांसादि तथा चोरी, झूठ, कपटादिद्वारा सम्पादित नरकादि-उत्पादक कुव्रतोंको) धारण कर शास्त्रविरुद्ध कर्मों—पापकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं । अन्तिम श्वासतक अपार विषयचिन्ताओंसे घिरे हुए वे 'कामोपभोग' ही परम पुरुषार्थ है, इस प्रकार स्थिर निश्चय करके सैकड़ों प्रकारकी आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए काम-क्रोधपरायण होकर कामभोगके लिये अन्यायपूर्वक (चोरी, विश्वासघात आदिके द्वारा) धन सञ्चय करनेकी चेष्टा करते हैं । आज मैंने यह पाया, यह मनोरथ भी पूरा होगा; यह धन मेरा है, फिर वह धन भी प्राप्त होगा । मैंने अमुक शत्रुको मार डाला, अब उन शत्रुओंको भी मारूँगा । मैं ईश्वर (के समान सर्वशक्तिमान्) हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान् हूँ,

अपने प्रेमी भक्तके प्रेमके पात्र हैं, वैसे ही उसके काम, क्रोधादिके पात्र भी वही हैं। दूसरा तो कोई उसके मन में है ही नहीं, तब इनका पात्र और कौन हो? इसका अर्थ यह नहीं कि भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंमें भी विषयी पुरुषों-जैसे ही काम, क्रोध, अभिमान रहते हैं। आसुरी सम्पदाके दुर्गुणस्वरूप काम, क्रोध, अभिमानादिके त्यागकी बात तो पहले ही कही जा चुकी है। फिर प्रेमी भक्त महात्माओंमें यह दूषित काम कहाँ। उनमें विषयासक्ति, हिंसा, द्वेष और क्रोध कहाँ। उन अमानियोंमें मानकी गन्ध भी कहाँ। इनका तो उनमें बीज ही नहीं है। अपने सुखकी जब कोई वासना ही

मैं सुखी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं बड़े कुलवाला हूँ, मेरे समान और कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, मैं (नाम, यश या स्वार्थके लिये) दान करूँगा, मैं मौज करूँगा,—इस प्रकार अज्ञानसे मोहित होकर वे अनेकों विषयोंके चिन्तनमें लगे हुए विभ्रान्त चित्तवाले, मोहजालसे ढके हुए, कामभोगमें आसक्त होकर महान् क्लेशदायक अपवित्र नरकोंमें पड़ते हैं। वे अभिमानी स्वयं अपनेको श्रेष्ठ समझते हैं (अपनेमें पूज्यबुद्धि रखते हैं), अकड़े रहते हैं, धन, मान और मदके नशेमें चूर हुए वे केवल दम्भपूर्वक लोगोंको धर्मात्मापनका स्वाँग दिखानेके लिये (ईश्वरप्रीत्यर्थ श्रद्धाविश्वासपूर्वक नहीं) अविधिपूर्वक नाममात्रका यज्ञ करते हैं। अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधका आश्रय लिये हुए वे अपने तथा दूसरोंके शरीरमें (आत्मारूपसे) स्थित मुझ (भगवान्) से द्वेष करते हैं और सत्य मार्गपर चलनेवाले साधुओंमें दोषारोपण करते हैं। मैं उन मेरे द्वेषी, क्रूर, नराधम और पापी मनुष्योंको संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही पटकता हूँ। हे अर्जुन! वे मूर्ख इस प्रकार जन्म-जन्ममें बार-बार आसुरी योनिको प्राप्त होकर मुझको (भगवान्‌को) न पाकर (मुझको पाना तो दूर रहा, मेरी प्राप्तिके योग्य मनुष्य-शरीरको भी न पाकर) और भी नीची योनियोंको प्राप्त होते हैं।

नहीं, तब ये दोष कहाँसे आवें ? उन भक्तोंके जीवनका उद्देश्य तो बस एक प्रियतमको सुखी करना ही है—'कृष्णसुखैकतात्पर्यं गोपीभाववर्यं ।' उनके चित्तमें जगत्‌का संस्कार ही नहीं है; वे तो लज्जा, घृणा, कुल, शील, मान, देह, गेह, भोग, मोक्ष, सबकी सुधि भुलाकर केवल अपने प्रियतम भगवान्‌पर ही न्योछावर हो चुके हैं। अतएव जैसे ये भक्त स्वयं दिव्य भाववाले होते हैं, वैसे ही इनके काम, क्रोध, अभिमान भी दिव्य होते हैं। इसीलिये परम विरागी जीवन्मुक्त मुनियोंने इस प्रकारके भगवत्-रंग-रँगीले प्रेमियोंकी ऐसी लीलाएँ गाने और सुननेमें अपनेको कृतार्थ माना है। जिनका चित्त सब ओरसे हट गया है, एकमात्र भगवान् ही जिनकी कामनाकी वस्तु रह गये हैं, वे भक्त अपने उन भगवान्‌के दर्शनकी कामनाके वेगसे पीड़ित होकर रो-रोकर पुकारते हैं—

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो ।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे ॥

(श्रीकृष्णकर्णामृत)

'हे देव ! हे प्रियतम ! हे विश्वके एकमात्र बन्धु ! हे हमारे मनोंको अपनी ओर बरबस खींचनेवाले ! हे चपल ! हे करुणाके एकमात्र सिन्धु ! हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम ! हा ! हा ! तुम कब हमारे दृष्टिगोचर होओगे ?'

श्रीकृष्णगतप्राणा श्रीरुक्मिणीजी कहती हैं—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥
का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम् ।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम् ॥
यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ५२ । ३७-३८, ४३)

'हे अच्युत ! हे त्रिभुवनसुन्दर ! जो कानोंके द्वारा हृदयमें प्रवेश करके सुननेवालोंके अङ्गतापको हरण कर लेते हैं वे आपके दिव्य गुण, और जो नेत्रधारियोंकी दृष्टिका सबसे परम लाभ है वह आपका दिव्य रूप, इनकी प्रशंसा सुनकर मेरा चित्त सारी लोक-लाजको छोड़कर आपपर अत्यन्त आसक्त हो गया है । हे मुकुन्द ! कुल, शील, रूप, विद्या, वय, द्रव्य और प्रभावमें आपके समान बस आप ही हैं । हे पुरुषोत्तम ! आप नरलोकके मनको मोहनेवाले हैं । हे पुरुषसिंह ! विवाहकाल (आपसे मिलनका अवसर) उपस्थित होनेपर ऐसी (कौन प्रेमी भक्तरूपी) कुलवती, गुणवती और बुद्धि-मती कन्या है जो आपके साथ गँठजोड़ा करनेकी इच्छा न करेगी ? हे कमललोचन ! उमापति शंकरके समान महान् देव अपने हृदय-का तम दूर करनेके लिये आपकी जिस चरणधूलिमें स्नान करनेकी

प्रार्थना करते रहते हैं, यदि वह चरणधूलि मुझे प्रसादरूपमें नहीं मिली तो यह निश्चय समझिये कि मैं व्रतादिके द्वारा शरीरको सुखाकर इन व्याकुल प्राणोंको त्याग दूँगी, और ऐसे करते-करते कभी सौ जन्मोंमें तो आपका प्रसाद मुझको प्राप्त होगा ही ।'

भगवान् श्रीकृष्णकी पटरानियाँ द्रौपदीसे कहती हैं—

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ८३ । ४१-४२)

'हे साध्वि ! हमें पृथ्वीके साम्राज्य, इन्द्रके राज्य अथवा इन दोनोंके भोग, अणिमा आदि ऐश्वर्य, ब्रह्माके पद, मोक्ष या वैकुण्ठकी भी इच्छा नहीं है । हम तो केवल यही चाहती हैं कि भगवान् श्रीकृष्णकी कमलाकुचकुंकुमकी सुगन्धसे युक्त चरणधूलिको ही सदा अपने मस्तकोंपर लगाती रहें ।' मुक्ति तो ऐसे भक्तोंके चरणोंपर लोटा करती है—

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः ॥

'जिसकी श्रीमुकुन्दके चरणोंमें परमानन्दरूपा भक्ति होती है, मोक्षसाम्राज्यश्री उसके चरणोंमें लोटती है ।'

आदर्श प्रेममयी भक्तशिरोमणि गोपियाँ प्रियतम भगवान्के आँखोंसे ओझल हो जानेपर विलाप करती हुई कहती हैं—

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥
प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। ५-६, १३)

'हे यदुकुलशिरोमणि! जो लोग संसारके भयसे तुम्हारे चरणोंकी शरण लेते हैं, तुम्हारे करसरोज उन्हें अभय देकर उनकी अभिलाषाओंको पूर्ण करते हैं। हे प्रियतम! अपने उन्हीं करकमलोंको, जिनसे आपने लक्ष्मीका हाथ पकड़ा है, हमारे सिरपर रखिये। हे व्रजवासियोंके दुःखोंको हरनेवाले वीर! आपकी मन्द मधुर मुसकान भक्तोंके गर्वको हरनेवाली है। हे सखे! हम आपकी किंकरी हैं, कृपा करके हमें स्वीकार कीजिये और अपना सुन्दर मुखकमल हमें दिखाइये। हे रमण! हे आर्तिनाशन! तुम्हारे चरणारविन्द प्रणत जनोंकी कामना पूरी करनेवाले हैं, लक्ष्मीजीके द्वारा सदा सेवित हैं, पृथ्वीके आभूषण हैं, विपत्तिकालमें ध्यान करनेसे कल्याण करनेवाले हैं, हे प्रियतम! उन परम कल्याणमय सुशीतल चरणोंको हमारे तप्त हृदयपर स्थापित कीजिये।'

इस प्रकार प्रेमी भक्त श्रीकृष्णके कामसे पीड़ित हुए सदा उन्हींके लिये रोया करते हैं और उन्हें पुकारा करते हैं; और आँखमिचौनीकी-सी लीला करनेवाले लीलाविहारी भगवान् जब उनकी प्रेम-पुकार सुनकर त्रिभुवनकमनीय, योगिजनदुर्लभ, देवदेव-प्रत्याशित, ऋषिमहर्षिमहापुरुषचित्ताकर्षक निखिलसौन्दर्यमाधुर्य-रसामृतसारभूत आनन्दकन्द मदनमोहन मन्मथमन्मथरूपमें मन्द-मन्द मुसकाते हुए और मुरलीमें अपना दिव्य मोहन सुर भरते हुए सहसा

प्रकट होकर अपनी प्रेमानन्दरसमाधुरी चारों ओर बिखेर देते हैं, जब अपने सौन्दर्यमाधुर्यसुधासुशीतल वदनविधुकी शुभ्र ज्योत्स्ना चारों ओर छिटका देते हैं, तब वहाँ उन भाग्यवान् दिव्यचक्षु दिव्यभावापन्न भक्त महात्माओंके चित्तोंकी क्या अवस्था होती है, इसका वर्णन करनेकी शक्ति किसीमें भी नहीं है। यह अनिर्वचनीय रहस्य है।

उस समय भक्तका अपना सब कुछ उनके चरणोंमें स्वयमेव न्योछावर हो जाता है और वह आनन्दोल्लासमें मत्त होकर सारे जगत्की परवा छोड़कर पुकार उठता है—

घर तजौं, बन तजौं, नागर नगर तजौं,
बंसीबट-तट तजौं काहूपै न लजिहौं।
देह तजौं, गेह तजौं, नेह कहो कैसे तजौं,
आज राजकाज सब ऐसे साज सजिहौं॥
बावरो भयो है लोक बावरी कहत मोकौं,
बावरी कहेते मैं काहू ना बरजिहौं।
कहैया सुनैया तजौं, बाप और भैया तजौं,
दैया तजौं मैया! पै कन्हैया नाहिं तजिहौं॥

जीना और मरना तुम्हारे ही लिये होगा, और तुम्हारे ही चरणोंमें होगा। मेरे हृदयकी यही एकमात्र कामना है। जब सब कुछ न्योछावर हो गया तो फिर मरनेके बाद शरीरके ये पाँचों भूत अलग-अलग बिखरकर भी तुम्हारी ही सेवा करेंगे।

कहीं ये पञ्चभूत जब मुझे छोड़कर अलग हों तब प्रियतमकी सेवासे हट न जायँ, इसीलिये विह्वलचित्तसे भक्त विधातासे प्रार्थना करता है—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

इसीका अनुवाद करते हुए एक कविने कहा है—

मरिबे डरौं न बिधिहिं बस, पंचभूत करि बास।
पी-बापी, मारग, मुकुर, बीजन, अँगन अकास॥

पाँचों तत्त्व तो अलग-अलग होंगे ही, हे प्रभो! आप इतना कर दीजिये कि जलका भाग उस कुँएमें जाकर मिल जाय जिसके जलको मेरे प्रियतम नहाने और पीनेके काममें लेते हों, अग्नितत्त्व उस दर्पणमें जा मिले जिसमें प्रियतम अपना मुख देखते हों, पृथ्वी-तत्त्व उस मार्गमें मिल जाय जिस मार्गसे प्रियतम आते-जाते हों, वायुतत्त्व उस भाग्यवान् पंखेमें जा मिले जिससे प्रियतम हवा लेते हों और आकाशतत्त्व उस आँगनमें जाकर मिल जाय जिसमें प्रियतम बैठते हों।

और जीव? वह तो प्रभुके चरणोंसे कभी अलग हो ही नहीं सकता। उसको तो वे अपने हृदयमें ही छिपा रक्खेंगे! यह है भक्तोंके 'काम'का एक छोटा-सा दृश्य! अब उनका क्रोध देखिये।

एक दिन श्रीकृष्णकी किसी खिझानेवाली चालसे श्रीराधाजी खीझ गयीं, सखी समझाने लगी तो वे क्रोधमें भरकर कहने लगीं—तू उनका नाम भी मेरे सामने मत ले; उनकी तो बात ही क्या है, मैं काले रंगकी चीजमात्रका त्याग कर दूँगी। जीवनभर उनके विरह-तापसे जलती रहूँगी, परन्तु उनसे मिलूँगी नहीं।

मिलौं न तिनसों भूल, अब जौलौं जीवन जियौं।
सहौं बिरहको सूल, बरु ताकी ज्वाला जरौं॥
मैं अब अपने मन यह ठानी। उनके पंथ पिऊँ नहिं पानी॥
कबहूँ नैन न अंजन लाऊँ। मृगमद भूलि न अंग चढ़ाऊँ॥
सुनौं न स्त्रवननि अलि पिक बानी। नील जलज परसौं नहिं पानी॥

जरा ध्यान देकर देखिये, इस खीझमें कितनी रीझ भरी है!

एक दिन लीलामयने भक्त सखाओंके प्रणयकोपका आनन्द लूटनेके लिये खेलमें गड़बड़ मचाकर सखाओंको खिझा दिया। सखाओंने मिलकर निश्चय किया कि इस नटखटको खेलसे अलग कर दो। श्यामसुन्दरका वियोग तो क्षणभरके लिये भी सहनेको उनमेंसे एक भी तैयार नहीं था, क्योंकि उसे अलग करते ही प्राण अलग हो जाते हैं; परन्तु ऊपरसे बात गाँठकर उन्होंने कहा—'कृष्ण! तुम खुद ही गड़बड़ मचाते हो, और फिर तनकर रूठ जाते हो; हटो यहाँसे, हम तुम्हें अपने साथ नहीं खेलने देंगे।' बस, जहाँ फटकार मिली कि प्राणधन श्यामसुन्दर ढीले पड़ गये। लगे पैरों पड़ने और शपथ खा-खाकर क्षमा माँगने। सूरदासजीने गाया है—

खेलनमें को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रुसैयाँ॥
जाति पाँति हमते बड़ नाहीं, ना हम बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत ताते, जाते अधिक तुम्हारे गैयाँ॥
रूठ करे ता सँग को खेलै, हा हा खात परत तब पैयाँ।
'सूरदास' प्रभु खेल्यो ही चाहैं, दाँव दियो करि नंद दुहैयाँ॥

यह है उनका क्रोध!

अब रही मानकी बात, सो दूषणरहित मान तो इस प्रेमा-भक्तिका एक भूषण ही है। एक समय श्रीराधारानी रूठ गयीं, मान कर बैठीं और सखियोंसे बोलीं—

सखि नँदलाल न आवन पावैं ।
भीतर चरन धरन जिन दीजो, चाहे जिते ललचावैं ॥
ऐसनको बिस्वास कहा री कपट बैन बतियावैं ।
'नारायन' इक मेरे भवन तजि अनत चहे जहँ जावैं ॥

भगवान् मनाते-मनाते थक गये और शेषमें बोले—

इतो श्रम नाहिंन तबहुँ भयो ।
सुनु राधिका! जितो श्रम मोकौं ते यह मानु दयो ॥
धरनीधर बिधि बेद उधारो, मधुर सो सत्रु हयो ।
द्विज नृप किये दुसह दुख मेटे, बलिको राज लयो ॥
तोर्‌यो धनुष सुयंबर कीनो, रावन अजित जयो ।
अघ बक बच्छ अरिष्ट केसि मथि दावानल अँचयो ॥
तिय बपु धर्‌यो असुर सुर मोहे, को जग जो न द्रयो ।
गुरुसुत मृतक ज्यायबे कारन सागर सोध लयो ॥
जानौं नाहिं कहा या रसमें सहजहि होत नयो ।
'सूरस्याम' बल तोहि मनावत मोहि सब बिसरि गयो ॥

धन्य तेरा मान! बड़े-बड़े काम किये, कहीं हार नहीं मानी, कहीं थकावट नहीं प्रतीत हुई। आज तुझे मनानेमें मेरा सारा बल खिला गया। यह भक्तोंकी और भगवान्‌की प्रणय-लीला है—इस लीलामें राग, काम, क्रोध, मान सभी हैं; परन्तु सभी दूसरे रूपमें हैं। सभी पवित्र प्रेमके नामान्तरमात्र हैं, यहाँका यह सर्वधर्मत्याग ही परम धर्म है। यहाँकी अविधि ही सर्वोपरि प्रेमकी विधि है।

यह तो हुई सिद्ध भक्तोंकी बात। भक्तिके साधनमें भी यदि काम क्रोध, लोभ कभी सतावें तो उनको भगवान्‌के प्रति ही लगा देना चाहिये। जो बातें हमारे मार्गमें बाधक होती हैं, वे ही भगवान्‌के प्रति प्रयुक्त होनेपर साधक बन जाती हैं। यह निश्चय रखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें परमहंसश्रेष्ठ श्रीशुकदेवजीके वचन हैं—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(१०।२९।१५)

'काम, क्रोध, भय, स्नेह, तादात्म्य एवं मित्रता, सभी कुछ जो श्रीहरिके प्रति ही करते हैं वे अवश्य ही भगवान्‌के साथ तन्मय हो जाते हैं।'

तीव्र काम उसी वस्तुके लिये उत्पन्न होता है जो सबसे श्रेष्ठ हो, अखिल ऐश्वर्यमय हो, महान् माधुर्यसे पूर्ण हो, सर्वाङ्गसुन्दर हो, आनन्दमय हो; भगवान्‌में यह सब कुछ है। यह सोचकर सदा-सर्वदा एकमात्र श्रीकृष्णमिलनकी कामनासे पीड़ित रहे और यह कामवासना उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाय। प्रेमभरा क्रोध इस प्रकार करे कि 'तुम बड़े निठुर हो, इतना पुकारनेपर भी नहीं आते; याद रक्खो—अभी तो मैं पुकारता हूँ,—पीछे तुम्हें पीछे-पीछे भटकना पड़ेगा।' आठों पहर चिन्तनमें लगे रहकर प्रेमभरा मान इस प्रकार करे कि, 'मेरे पास तो अटूट चिन्तन-धन है, मैं तुम्हारी कोई गरज़ नहीं रखता; तुम्हें सौ बार गरज़ हो तो आना।' इत्यादि।

भगवान्‌के प्रति काम, क्रोध और अभिमान कैसे किया जा सकता है इसका एक और सुन्दर उदाहरण मातृपरायण शिशु है। छोटे बच्चेको आप बहुमूल्य रत्न दीजिये, उसे बढ़िया-बढ़िया चीजें खानेको दीजिये, उसका खूब सम्मान कीजिये, उसका यश गाइये,

उसे स्वर्ग-मोक्ष मिलनेकी बात कहिये, वह माता और मातृस्तनोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता। चाहे क्या, वह और किसी वस्तुको जानता ही नहीं, उसके लिये जाननेकी और चाहनेकी एकमात्र वस्तु माँ है। माँके बदलेमें वह किसी वस्तुसे भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार भक्तकी कामना केवल भगवान्‌के लिये ही होनी चाहिये। एकमात्र भगवान् ही उसके काम्य होने चाहिये।

बच्चा कुछ बड़ा हुआ; इधर-उधर चलने लगा; चलते-चलते ठोकर खाकर गिर पड़ा, रोने लगा। बच्चेका रोना सुनकर माँ दौड़ी आयी। बच्चा खीझ गया; पड़ा स्वयं, परन्तु क्रोध उसका मातापर हुआ। वह अपनी तोतली बोलीमें बार-बार कहता है, तू मुझे अकेला छोड़ क्यों गयी? फिर अभिमान करके रूठ जाता है। कहता है, 'जा मैं तुझसे नहीं बोलूँगा। तेरी गोदी नहीं आऊँगा।' माँ मनाती है, गोद लेना चाहती है, स्तन पिलाना चाहती है, वह रोता हुआ आगे-आगे भागता है। वह ऐसा क्यों करता है, इसीलिये कि वह स्वाभाविक ही मातापर अपना अधिकार समझता है। माताको ही अपनी सब कुछ समझता है। वह भूखा रहे तो माँका दोष, वह गिर जाय तो माँका अपराध, वह सो न सके तो माताका अपराध; और अपराधका दण्ड खीझना और रूठना—क्रोध और अभिमान। इसी प्रकार निर्भर भक्त भी अपने भगवान्‌के प्रति काम, क्रोध और अभिमानादि कर सकता है।

प्रेमी भक्तोंकी महिमा

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम्, प्रेमैव कार्यम् ॥६६॥

६६—तीन (स्वामी, सेवक और सेवा) रूपोंको भंगकर नित्य दासभक्तिसे या नित्य कान्ताभक्तिसे प्रेम ही करना चाहिये, प्रेम ही करना चाहिये।

स्वामी, सेवक और सेवा; अथवा पति, पत्नी और पतिसेवा—इन तीन-तीन रूपोंको मिटाकर नित्य दास्यभक्तिके द्वारा अथवा कान्ताभक्तिके द्वारा भगवान्‌से प्रेम ही करना चाहिये। दास्यभाव और कान्ताभाव इन दोनोंमें ही आगे चलकर भगवान्‌के साथ तन्मयता हो जाती है। निष्कामभावसे शरीर, मन, वाणी सब कुछ स्वामीके अर्पण कर, एक अपने स्वामीको छोड़कर जगत्‌में दूसरे किसीको भी न जानना—यह दास्यभक्तिका आदर्श है। और पति ही मेरा तन, मन, धन, गति, मति, आश्रय, जीवन, प्राण, धर्म, मोक्ष और भगवान् है; एक पतिके सिवा अन्य कोई पुरुष ही जगत्‌में नहीं है, पतिका धन मेरा धन, पतिका तन मेरा तन, पतिका मन मेरा मन, पतिकी सेवा मेरी सेवा, पतिका ऐश्वर्य मेरा ऐश्वर्य, पतिका मान मेरा मान, पतिका अपमान मेरा अपमान, पतिके प्राण मेरे प्राण—इस प्रकार एकमात्र पतिपरायणा पतिगतप्राणा होकर निष्काम अनन्यभावसे निरन्तर सेवामें लगे रहना, यह कान्ताभक्तिका आदर्श है। वास्तवमें दोनों एक ही हैं। दोनोंमें ही समता है। दोनोंमें ही अभिन्नता है। दास्यभक्तिमें भी सेवक अपना सब कुछ भुलाकर

स्वामीके नाम-गोत्रवाला बन जाता है और कान्ताभक्तिमें तो अपने नाम-गोत्रको पतिके नाम-गोत्रमें मिलानेपर ही कान्ताभावकी प्राप्ति होती है। दास्यभावके सम्बन्धमें श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

मेरे जातिपाँति न चहौं काहूकी जातिपाँति,
मेरे कोऊ कामको न हौं काहूके कामको।
लोक परलोक रघुनाथहीके हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसीके एक नामको॥
अति ही अयाने उपखाने नहीं बूझैं लोग,
साहहीको गोत गोत होत है गुलामको।
साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहूके द्वार परौं जो हौं सो हौं रामको॥

स्वामी और सेवकका कुल-गोत्र एक हो गया। इस दास्यभावकी महिमा गाती हुई भगवती श्रीराधिकाजी भक्तवर उद्धवजीसे कहती हैं—

कृष्णभक्तिः कृष्णदास्यं वरेषु च वरं वरम्।
श्रेष्ठा पञ्चविधामुक्तेर्हरिभक्तिर्गरीयसी॥
ब्रह्मत्वादपि देवत्वादिन्द्रत्वादमरादपि।
अमृतात् सिद्धिलाभाच्च हरिदास्यं सुदुर्लभम्॥
(ब्रह्मवैवर्त० कृ० ९७। ८-९)

'सब वरोंमें श्रेष्ठतम वर श्रीकृष्णभक्ति या श्रीकृष्णदास्य ही है। पाँच प्रकारकी श्रेष्ठ मुक्तियोंसे हरिभक्ति ही श्रेष्ठ एवं गुरुतर है। ब्रह्मत्व, देवत्व, अमरत्व, अमृतत्वप्राप्ति, सिद्धिलाभ—इन सभीसे श्रीहरिका दासत्व प्राप्त होना सुदुर्लभ है।'

कान्ताभक्तिमें तो एकात्मता है ही—

प्रीति जो मेरे पीवकी बैठी पिंजर माहिं।
रोम रोम पिउ पिउ करै, 'दादुर' दूसर नाहिं॥
प्रीतमको पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होय बिदेस।
तनमें, मनमें, नैनमें, ताको कहा सँदेस॥

कान्ता और कान्त तो घुल-मिलकर एक हो जाते हैं— अतएव वहाँ त्रिरूपका भंग आप ही हो जाता है। सूत्रकार कहते हैं, इस एकात्मताके आदर्शको सामने रखकर, इस भावको मनमें स्थान देकर दास्यभाव या कान्ताभावसे भगवान्‌के प्रति केवल प्रेम ही करो।

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥६७॥

६७—एकान्त (अनन्य) भक्त ही श्रेष्ठ हैं।

इससे पूर्व सूत्रके अनुसार भक्ति करनेवाला भगवान्‌का अनन्य भक्त ही सबमें श्रेष्ठ है; क्योंकि उसका तन, मन, धन सब कुछ परमात्मा हो जाता है। वह परमात्माका यन्त्रवत् होकर संसारमें रहता है। उसका आत्मा परमात्मासे मिल जाता है, उसका मन परमात्माके मनमें रम जाता है। उसके नेत्र सब जगह सर्वदा परमात्माको ही देखते हैं—

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, आप पथिक फिरि जाय॥
'कबिरा' काजर-रेखहू, अब तो दई न जाय।
नैननि पीतम रमि रहा, दूजा कहाँ समाय॥
आठ पहर चौंसठ घरी, मेरे और न कोय।
नैना माहीं तू बसै, नींदहिं ठौर न होय॥

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥ ६८ ॥

६८—ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं।

अनन्य भक्तगण जब इकट्ठे होकर अपने प्राणस्वरूप प्रियतमकी चर्चा करते हैं तो उनका प्रेमसागर उमड़ पड़ता है। तब वे चेष्टा करनेपर भी नहीं बोल सकते, उनके कण्ठ रुक जाते हैं, शरीर पुलकित हो जाता है, रोम-रोमसे प्रेमकी किरणधाराएँ निकलकर उस स्थानमें निर्मल प्रेमज्योति फैला देती हैं। वहाँका वातावरण अत्यन्त विशुद्ध और प्रेममय हो जाता है। उस समय वे भक्तगण प्रेमविह्वल होकर आँखोंसे प्रेमके आँसुओंकी धारा बहाते हुए परमानन्दमें मग्न हो जाते हैं। यह स्थिति बहुत ही दुर्लभ और परम पवित्र होती है, जिन भाग्यवानोंको यह अवस्था प्राप्त हो जाती है उन सबके कुल तो पवित्र होते ही हैं—

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

—वरं उनके अस्तित्वसे पृथ्वी भी पवित्र हो जाती है। उस समय उन पवित्र प्रेमस्वरूप भक्तके तनसे स्पर्श की हुई जरा-सी हवा जिसके शरीरको स्पर्श कर लेती है, वह भी पवित्र हो जाता है। शास्त्रमें कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँ-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥
(स्कं० पु० माहे० खं० कौ० खं० ५५ । १४०)

'जिसका चित्त अपार संवित् एवं सुखके सागर परब्रह्ममें लीन हो गया है उसके जन्मसे कुल पवित्र, जननी कृतार्थ और पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(११ । १४ । २४)

'प्रेमके प्रकट हो जानेसे जिसकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो प्रेमावेशमें बार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने और नाचने लगता है। ऐसा मेरा परम भक्त त्रिलोकीको पवित्र कर देता है।'

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥ ६९ ॥

६९–ऐसे भक्त तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्शास्त्र कर देते हैं।

तीर्थ पापी नर-नारियोंको निष्पाप और पवित्र करते हैं, परन्तु पापात्माओंके सतत समागमसे उनमें मलिनता आ जाती है।

तीर्थोंकी वह मलिनता भक्तोंके समागमसे नष्ट होती है। दिलीप-कुमार महाराज भगीरथके घोर तपसे प्रसन्न होकर वर देनेके लिये आविर्भूत हुई भगवती श्रीगङ्गाजीने उनसे कहा—'भगीरथ ! मैं पृथ्वीपर कैसे आऊँ ? संसारके सारे पापी तो आ-आकर मुझमें अपने पापोंको धो डालेंगे। परन्तु उन पापियोंके अपार पाप-पङ्कको मैं कहाँ धोने जाऊँगी, इसपर आपने क्या विचार किया है ?' इसके उत्तरमें भगीरथने कहा—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥

(श्रीमद्भा० ९।९।६)

'हे माता ! समस्त विश्वको पवित्र करनेवाले, विषयोंके त्यागी, शान्तस्वरूप, ब्रह्मनिष्ठ साधु-महात्मा आकर तुम्हारे प्रवाहमें स्नान करेंगे तब उनके अङ्गके सङ्गसे तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे; क्योंकि उनके हृदय-में समस्त पापोंके नाश करनेवाले श्रीहरि निवास करते हैं।'

प्रचेतागण भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं—

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः॥

(श्रीमद्भा० ४।३०।३७)

'आपके जो भक्तगण तीर्थोंको पवित्र करनेके लिये ही भूमिपर विचरण करते हैं उनका समागम संसारभयसे भीत पुरुषको कैसे प्रिय नहीं होगा ?'

धर्मराज युधिष्ठिर भक्तराज विदुरजीसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १।१३।१०)

'हे प्रभो ! आप-सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थरूप हैं, (पापियों-द्वारा कलुषित हुए) तीर्थोंको आपलोग अपने हृदयमें विराजित भगवान् श्रीगदाधरके प्रभावसे पुनः तीर्थत्व प्रदान करा देते हैं ।'

इसी प्रकार जिन शास्त्रोक्त कर्मोंको भक्तगण करने लगते हैं, वे ही सत्कर्म हो जाते हैं और वे जिस शास्त्रको आदर देते हैं, वही सत्शास्त्र माना जाता है । वरं यह कहना भी अत्युक्ति नहीं कि भक्त जिस जगह रहते हैं, जिस सरोवर या नदीमें स्नान करते हैं, वही तीर्थ बन जाता है; भक्त जो कुछ कर्म करते हैं, वही आदर्श सत्कर्म कहलाता है और भक्त जो कुछ उपदेश करते हैं, वही सत्शास्त्र माना जाता है । उनका निवासस्थान ही तीर्थ, उनके कर्म ही सत्कर्म और उनकी वाणी ही सत्शास्त्र है । तीर्थ, सत्कर्म और शास्त्रका रहस्य समझनेपर यह बात भलीभाँति समझमें आ जाती है ।

तन्मयाः ॥ ७० ॥

७०-(क्योंकि) वे तन्मय हैं ।

जैसे नदी समुद्रमें मिलकर समुद्र बन जाती है, इसी प्रकार भक्त भी अपना तन-मन-बुद्धि-अहंकार सब कुछ प्रियतम भगवान्‌के समर्पण कर भगवान्‌के साथ तन्मय हो जाता है । ऐसा भक्त साक्षात् भगवत्स्वरूप ही होता है, वह जहाँ रहता है वहाँका तमाम सूक्ष्म और स्थूल वातावरण शुद्ध हो जाता है । इसीलिये उसके समागममात्रसे तीर्थ, कर्म और शास्त्र पवित्र हो जाते हैं । ऐसे ही भक्तोंके द्वारा भगवान्, भगवन्नाम, भगवद्भक्तिकी महिमा

बढ़ती है और इनके समागममें आनेवाले पापी-से-पापी नर-नारी भी घोर संसार-सागरसे अनायास ही तर जाते हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥ ७१ ॥

७१-(ऐसे भक्तोंका आविर्भाव देखकर) पितरगण प्रमुदित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथा हो जाती है।

भक्तोंका आविर्भाव सभीके लिये शुभ होता है; क्योंकि उनके सभी कर्म स्वाभाविक ही लोककल्याणकारी होते हैं। उनके प्रभावसे लोगोंमें धर्मके प्रति श्रद्धा बढ़ती है, पितृकार्य और देव-कार्योंमें विश्वास उत्पन्न हो जाता है। इससे धर्मपथसे डिगे हुए लोग पुनः धर्ममार्गपर आरूढ़ होकर यज्ञ, दान, श्राद्ध, तर्पण आदि कर्म करने लगते हैं जिससे देवता और पितरोंको बड़ा सुख मिलता है। भक्तिके प्रतापसे भक्तके आगे-पीछेके कई कुल तर जाते हैं, इसलिये अपने कुलमें भक्तको उत्पन्न हुआ देखकर पितरगण अपनी मुक्तिकी दृढ़ आशासे हर्षोत्फुल्ल हो जाते हैं। पद्मपुराणमें कहा है—

आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति ॥

'पितृ-पितामहगण अपने वंशमें भगवद्भक्तका जन्म हुआ जानकर—यह हमारा उद्धार कर देगा, इस आशासे प्रसन्न होकर नाचने और ताल ठोकने लगते हैं।'

मचले हुए दर्शनाकाङ्क्षी भक्त किसी भी बातसे सन्तुष्ट नहीं होते, अतः स्नेहमयी जननीकी भाँति उन्हें अपनी गोदमें खिलाकर सुखी करनेके लिये सच्चिदानन्दघन भगवान् दिव्य रूपमें साक्षात् प्रकट होते हैं। उनके प्रकट होते ही देवताओंका अहित करनेवाले असुरोंका विनाश आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भक्तके आविर्भावको ही भगवान्‌के प्राकट्यमें कारण समझकर देवतागण भी नाचने लगते हैं। जबतक भगवान् या भगवान्‌के प्यारे धर्मात्मा भक्तोंका आविर्भाव नहीं होता तबतक पृथ्वीदेवी अनाथा रहती हैं; और जब भक्त प्रकट होते हैं तब बछड़ेके पीछे स्नेहवश दौड़नेवाली गौकी तरह भगवान् भी प्रकट हो जाते हैं। अतएव भक्तके आविर्भावसे ही पृथ्वी सनाथा हो जाती है।

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ॥ ७२ ॥

७२–उनमें (भक्तोंमें) जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिका भेद नहीं है।

सूत्रकार यहाँ यह समझाते हैं कि भक्तिमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिकी प्रधानता नहीं है। ब्राह्मण हो या शूद्र, पढ़ा-लिखा हो या बेपढ़ा-लिखा, सुन्दर हो या कुरूप, ऊँचे कुलका हो या नीच कुलका, धनवान् हो या दरिद्र और बहुत क्रियाशील हो या अक्रिय। जो अपना सर्वस्व प्रभुपर न्योछावर कर सतत उनका प्रेमपूर्वक स्मरण करनेमें अपने चित्तको तल्लीन कर देता है; उसीको भक्तिरूपी परम दुर्लभ धन मिल जाता है।

निषादका जन्म नीच जातिमें हुआ था, सदन कसाई थे, शबरी गँवार स्त्री थी, ध्रुव अपढ़ बालक थे, विभीषण और हनुमानादि कुरूप और अकुलीन राक्षस तथा वानर थे, विदुर और सुदामा निर्धन थे, गोपीजन क्रियाहीन थीं, परन्तु इन सबने भक्ति और प्रपत्तिके प्रतापसे भगवान्‌का प्रेम प्राप्त किया और भगवान्‌के परमप्रिय हो गये। सर्व सत्कर्मोंकी फलरूपा भक्ति जिसके हृदयमें है, वही भक्त है, वही सर्वगुणसम्पन्न है, फिर चाहे वह कोई हो। यही बात श्रीरामचरितमानसमें कही गयी है—

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जाकर मन राता॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

इसका यह तात्पर्य नहीं कि भक्त अपनेको सबसे ऊँचा और सर्वगुणसम्पन्न समझकर सबसे अपनी पूजा कराता है या समाज, जाति, वर्ण और आश्रममें बड़ोंके साथ खान-पान, विवाह, व्यवहार, रहन-सहन, आचार-विचार और कुलपरम्परा आदिमें अपने लिये समान अधिकारका दावा करता है। भक्त तो अभिमान-का सर्वथा त्यागी है, फिर वह नया झूठा अभिमान लादकर ऐसा

क्यों करने लगा ? जो ऐसा करते हैं वे भक्त नहीं हैं। वर्णाश्रम तथा भक्तिमें भेद है। जो भक्तिके नामपर वर्णाश्रमकी मर्यादा नाश करना चाहते हैं, वे तो भक्तिपर लाञ्छन लगाते हैं। अतएव भक्तिमार्गपर चलनेवाले साधकोंको शास्त्रत्यागकी कभी भावना ही नहीं करनी चाहिये। यह सत्य है कि प्रारब्धमें न होनेसे विद्या और धन नहीं मिल सकता, और न इस जन्ममें रूप, जाति तथा कुल ही बदल सकते हैं। परन्तु इन सब वस्तुओंके होने-न-होनेसे अथवा कम-ज्यादा होनेसे भक्तमें ऊँचा-नीचा भाव नहीं करना चाहिये—भक्तिके नाते जातिभेद आदिके कारण भक्तको नीचा कदापि नहीं समझना चाहिये। वैष्णवशास्त्रोंमें इसीलिये भक्तोंमें जातिभेदबुद्धिको एक अपराध बतलाया है।*

---

* वैष्णवग्रन्थोंमें निम्नलिखित ६४ अपराध बतलाये गये हैं। इनपर ध्यान रखकर चलनेसे बहुत लाभ हो सकता है—१ श्रीभगवान्‌को कोई देवता या तत्त्वविशेष मानना, २ वेदोंमें ग्रन्थ या पौरुषेयबुद्धि, ३ भक्तोंमें जातिभेदबुद्धि, ४ गुरुको साधारण मनुष्य समझना, ५ भगवान्‌की प्रतिमाको काठ, पत्थर, धातु, कागज या मिट्टी समझना, ६ भगवान्‌के प्रसादको साधारण खानेकी चीज समझना, ७ भगवान्‌के चरणोदकको साधारण जल समझना, ८ तुलसीको साधारण वृक्ष समझना, ९ गौको साधारण पशु समझना, १० भागवत और गीताको साधारण पुस्तक समझना, ११ भगवान्‌की लीलाओंको मनुष्यकी की हुई मानना, १२ सांसारिक प्रेम या स्त्रीसुखके साथ भगवान्‌की लीलाकी तुलना करना, १३ गोपियोंको (भगवान्‌के लिये) परनारी समझना,

यतस्तदीयाः ॥ ७३ ॥

१४ रासलीलाको कामचेष्टा समझना, १५ भगवान्‌के महोत्सवके समय स्पर्शास्पर्शबुद्धि रखना, १६ ईश्वर और शास्त्रोंको न मानकर नास्तिक हो जाना, १७ सन्देहपूर्वक धर्मका आचरण करना, १८ धर्मके पालनमें आलस्य करना, १९ भक्तोंको बाहरी बातोंपर कसना, २० साधु-महात्माओंके गुण-दोषोंकी आलोचना करना, २१ अपनेको उत्तम समझना, २२ किसी भी देवता या किसी भी शास्त्रकी निन्दा करना, २३ भगवान्‌की मूर्तिके सामने पीठ देकर बैठना, २४ भगवान्‌की मूर्तिके सामने जूते पहनकर जाना, २५ भगवान्‌की मूर्तिके सामने माला धारण करना, २६ भगवान्‌की मूर्तिके सामने छड़ी लेकर जाना, २७ भगवान्‌की मूर्तिके सामने नीले कपड़े पहनकर जाना, २८ दाँतन-कुल्ला किये बिना जाना, २९ मलत्याग या मैथुनादिके बाद कपड़े बदले बिना मन्दिरमें प्रवेश करना, ३० भगवान्‌की मूर्तिके सामने हाथ-पैर फैलाना, ३१ भगवान्‌की मूर्तिके सामने पान खाना; ३२ भगवान्‌की मूर्तिके सामने जोरसे हँसना, ३३ कुचेष्टा करना, ३४ स्त्रियोंके चारों ओर घूमना, ३५ क्रोध करना, ३६ भगवान्‌की मूर्तिके सामने किसी दूसरेका अभिवादन करना, ३७ दुर्गन्धवाली कोई चीज खाकर दुर्गन्ध दूर होनेके पहले मन्दिरमें जाना, ३८ मादक द्रव्य सेवन करना, ३९ किसीको अपमानित करना या मारना, ४० काम-क्रोधादिकी चेष्टा करना, ४१ अतिथि या साधुकी आवभगत न करना, ४२ अपनेको भक्त, धर्मात्मा, पण्डित या पुण्यात्मा समझना, ४३ नास्तिक, व्यभिचारी, हिंसक, लोभी और झूठ बोलनेवाले मनुष्योंका सङ्ग करना, ४४ विपत्तिमें ईश्वरपर दोष लगाना, ४५ पापके लिये धर्म करना, ४६ किसीको किञ्चित्

७३–क्योंकि (भक्त सब) उनके (भगवान्‌के) ही हैं।

भक्त अपनी भक्तिके प्रभावसे भगवद्‌रूप ही हो जाते हैं, इसीलिये उनमें परस्पर भेदबुद्धि नहीं होती और उनमें कोई अपनेको किसी भी हेतुसे ऊँचा नहीं समझता।

भी कष्ट देकर अपनेको धार्मिक समझना, ४७ स्त्री, पुत्र, परिवार, आश्रित, दीन और साधुका पालन-पोषण न करना, ४८ किसी वस्तुको अपनी भोग्य समझकर भगवान्‌के निवेदन करना या बिना निवेदन किये भोगना, ४९ अपने इष्टदेवके नामकी शपथ करना, ५० धर्म और भगवान्‌के नामको बेचकर धन कमाना, ५१ अपने इष्टदेवको छोड़कर दूसरेसे आशा करना, ५२ शास्त्रोंकी मर्यादाको तोड़ना, ५३ ब्रह्मज्ञान न होनेपर भी ब्रह्मज्ञानीके समान आचरण करना, ५४ सम्प्रदायभेदसे वैष्णवोंमें किसीको ऊँचा-नीचा समझना, ५५ देवताके समान आचरण करना, ५६ अवतारोंकी लीलाओंमें तारतम्य देकर उनकी निन्दा करना, ५७ दिल्लगीमें भी किसीको 'आप ही भगवान् हैं' ऐसा कहना, ५८ भगवान् किसीके मुखापेक्षी हैं, भूलकर भी ऐसा समझना, ५९ लोभवश किसीको भगवत्प्रसाद या चरणोदक देना, ६० भगवान्‌के चिह्न, प्रतिमा या नामका अपमान करना, ६१ किसी भी जीवको किसी प्रकारसे कष्ट पहुँचाना, भय दिखलाना या किसीका अहित करना, ६२ तर्क-वितर्कमें हार जाने या सिद्धान्त स्थापित न कर सकनेपर आस्तिकताको त्याग देना, ६३ भगवान्‌के अवतारोंके जन्म-कर्मोंको साधारण समझना, ६४ भगवान्‌के युगलरूपमें द्वैतबुद्धि करना।

वाद-विवादरूपी विघ्न

वादो नावलम्ब्यः ॥ ७४ ॥

७४—(भक्तको) वाद-विवाद नहीं करना चाहिये ।

भक्तिके साधकोंके लिये यह सूत्र बड़े ही महत्त्वका है। भक्तको तर्क-वितर्कमें पड़नेकी कोई भी आवश्यकता नहीं। यह समझना चाहिये कि मेरा तो हरेक क्षण अपने प्रियतम भगवान्‌के भजनके लिये समर्पण हो चुका, उसे दूसरे काममें लगानेका अधिकार ही नहीं है। फिर वह तर्क-वितर्क करे भी किस बातकी? सृष्टि कब हुई, कैसे हुई, क्यों हुई, इसका मूल तत्त्व क्या है, इन सब बातोंको जाननेकी उसे जरूरत नहीं। उसने तो श्रीभगवान्‌को ही सब कुछ मान-जानकर अपना एकमात्र लक्ष्य बना लिया है। भगवान् अपना तत्त्व जब चाहेंगे, आप ही समझा देंगे। कब समझावेंगे, समझावेंगे या नहीं समझावेंगे, इस बातकी भी उसे कोई चिन्ता नहीं होनी चाहिये। अपने प्रियतम भगवान्‌के चिन्तनको छोड़कर दूसरी किसी वस्तुके चिन्तनकी उसके मनमें गुंजाइश ही नहीं होनी चाहिये। और यह भी निश्चित है कि तर्कसे तत्त्वकी उपलब्धि भी नहीं होती। इसीलिये ब्रह्मसूत्रमें कहा है—'तर्काप्रतिष्ठानात्' (२ । १ । ११)—'तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है।' कठोपनिषद्‌में कहा गया है—'नैषा तर्केण मतिरापनेया'

(१ । २ । ९)। 'बुद्धिके तर्कसे उस तत्वकी प्राप्ति नहीं होती।' वह सत्य तत्त्व तो शुद्धचित्त सात्त्विक पुरुषके सामने स्वयमेव आविर्भूत होता है। किसी अंशमें यह भी सत्य है कि 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः', परन्तु वह वाद दूसरा होता है। श्रद्धालु शिष्य जिज्ञासाभावसे गुरुके सामने तर्क उपस्थित करता है और गुरु उसकी शङ्काका निवारण कर और भी प्रबल तर्कसे उसे सिद्धान्त समझाते हैं। ऐसा वाद दूषित नहीं है। परन्तु जो वाद आग्रहपूर्वक होता है वह तो बुरा ही फल उत्पन्न करता है और वादमें अपने मतका आग्रह हो ही जाता है। फिर सिद्धान्तका लक्ष्य छूट जाता है और व्यक्तिगत दोषनिरीक्षण, दोषारोपण और परस्पर गाली-गलौज होने लगता है। विवेक नष्ट हो जाता है, क्रोध छा जाता है, वाणी बेकाबू हो जाती है और सदाके लिये वैर बँध जाता है। इसीलिये 'वादे वादे वर्द्धते वैरवह्निः'—'वाद-विवादसे वैरकी आग भड़क उठती है,' कहा जाता है। भक्तिके पथिकको तो इतनी फुरसत ही नहीं मिलनी चाहिये जिसमें वह वाद-विवाद कर सके। जहाँतक हो सके उसे तर्कके स्थानसे अलग ही रहना चाहिये। यदि प्रारब्धवश कभी तर्कवादियोंसे समागम हो जाय तो उसे विनीतभाव धारण कर उनकी बात सुन लेनी चाहिये और बदलेमें कोई उत्तर देकर बात बढ़ानी नहीं चाहिये। 'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति'—'जब आगमें ईंधन नहीं पड़ेगा तो वह आप ही बुझ जायगी'—कहनेवाले स्वयं ही थक जायँगे। अतएव भक्तके लिये सबसे भली चुप है। 'मौनं सर्वार्थसाधनम्'—यह वाक्य याद रखना चाहिये।

दूसरेकी ऐसी बात सुने ही नहीं जिससे अपने इष्टमें, पथमें, विश्वासमें और साधनमें संशय हो जाय; और स्वयं किसीका जी दुखे, ऐसी कोई बात किसीसे कहे नहीं। दूसरेकी बात मौके-बेमौके सुननी पड़े तो उसे सुन ले; परन्तु स्वयं तो तर्ककी इच्छासे दूसरेको दबानेके लिये, अपना मत स्थापन करनेके लिये विवादमें उतरे ही नहीं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि श्रद्धाके साथ पूछनेवालेको कुछ न कहे, या मौका पड़नेपर बिना पूछे भी हितकी बात न कहे। मतलब तो यह है कि विवादमें न उतरे। अनावश्यक बोले ही नहीं, जब बिना बोले काम न चले तब आवश्यक समझकर इतना ही बोले जितनेसे काम चल जाय। बात बढ़ाकर न कहे, विवादके भावसे न कहे, किसीका विरोध न करे, किसीकी दिल्लगी न करे, किसीका दोष न बतावे, किसीके हृदयपर चोट न करे, अपनी या अपने मतकी बड़ाई न करे, किसीकी निन्दा न करे, कड़ुआ न बोले, बोलनेमें आशा या कामनाका भाव न रक्खे, जबानसे किसीको धोखा न दे, किसीके विश्वासमें शङ्का न पैदा करे। जो कुछ बोले सत्य, मधुर, प्रिय, अनुद्वेगकर और हितकर शब्द ही बोले; शेष समय भगवन्नाम-स्मरणमें लगा रहे। अनावश्यक एक शब्द बोलनेमें भी बड़ी हानि समझे, क्योंकि उतना समय व्यर्थ गया। उतने समयके लिये जीभसे नामजप छूट गया और अनावश्यक शब्दका वातावरणमें जो असर हुआ, वह अलग। यह निश्चय रक्खे कि तर्क और वाद-विवादसे कभी भगवत्प्रेम, ज्ञान या भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती।

तर्कसे तो अहङ्कार, द्वेष, क्रोध, हिंसा और वैरकी ही जमात इकट्ठी होती है। अतएव वाद-विवादसे सदा अलग रहे।

अस बिचारि जे तग्य बिरागी। रामहि भजहिं तरक सब त्यागी॥
अस बिचारि मति धीर तजि कुतर्क संसय सकल।
भजिअ राम रनधीर करुनाकर सुंदर सुखद॥

बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च ॥ ७५ ॥

७५—क्योंकि (वाद-विवादमें) बाहुल्यका अवकाश है और वह अनियत है।

सूत्रकार कारण दिखाते हुए कहते हैं कि वाद-विवादमें उत्तर-प्रत्युत्तर होता है और वह बढ़ता ही जाता है। दोनों ओरसे अपने-अपने मतका समर्थन करनेमें शब्दोंकी झड़ी लग जाती है। जो बात भगवत्कृपासे ही जानी जा सकती है, वह तर्कसे मिल तो सकती ही नहीं। अतएव तर्क-वितर्कका कोई सुफल भी नहीं होता। यदि विवादमें बोलते-बोलते थक जाने या समयपर तर्क याद न आनेसे किसी पक्षकी जीत हो जाती है तो वह भी सिद्धान्त नहीं माना जाता; क्योंकि वह सिद्धान्त है ही नहीं। अतएव विवादमें समय नष्ट न कर भक्तको सब प्रकारसे अपने भगवान्‌पर निर्भर रहते हुए निरन्तर निष्कपट और निष्काम भावसे परम श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का भजन करना चाहिये। भगवत्प्रेमकी प्राप्ति तर्कसे नहीं होती, भक्तिसे ही होती है।

भक्तिके प्रधान सहायक

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि ॥ ७६ ॥

७६–(उस प्रेमाभक्तिकी प्राप्तिके लिये) भक्तिशास्त्रका मनन करते रहना चाहिये और ऐसे कर्म भी करने चाहिये जिनसे भक्तिकी वृद्धि हो ।

भक्ति चाहनेवालोंको न कोई ग्रन्थ देखना चाहिये और न कोई कर्म करना चाहिये, ऐसी बात नहीं है । उनको तर्क-वितर्कका त्याग करके बार-बार ऐसे ग्रन्थोंको अवश्य देखना चाहिये जिनमें भगवान्‌की भक्तिका निरूपण हो, भक्तिका माहात्म्य हो, भक्तिके साधन बतलाये गये हों, भगवान्‌के प्यारे भक्तोंके पुण्यचरित्रोंकी कथाएँ हों और भक्तिके वशमें होकर रहनेवाले भगवान्‌के प्रभाव. रहस्य और गुणोंका वर्णन हो । ऐसे भक्तिशास्त्रोंके अध्ययनसे, महात्मा भक्त संतोंकी वाणियोंके श्रवण और पठनसे भगवान्‌के प्रति प्रेमाभक्तिका उदय होता है । हाँ, भक्ति चाहनेवाले पुरुषोंको ऐसी पुस्तकें कभी नहीं पढ़नी-सुननी चाहिये जिनमें श्रीभगवान्‌का और भक्तिका खण्डन हो, उनका महत्त्व कम बतलाया गया हो और भक्तोंकी निन्दा हो, अथवा जिनमें लौकिक विषयोंकी महत्ताका ही वर्णन हो । ऐसी पुस्तकें भी उन्हें लाभदायक नहीं होतीं जिनमें भगवान्, भक्ति और भक्तोंका महत्त्व न हो । इसके सिवा राग-द्वेष, काम-क्रोध और वैर-विरोध उत्पन्न करनेवाला साहित्य तो छूना भी नहीं चाहिये । इसीलिये ऐसा कहा गया है कि—

यस्मिन् शास्त्रे पुराणे वा हरिभक्तिर्न दृश्यते।
श्रोतव्यं नैव तच्छास्त्रं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत्॥

'जिस शास्त्र या पुराणमें भगवान्‌की भक्ति न दिखलायी दे, ब्रह्माके द्वारा कहा हुआ होनेपर भी उसको नहीं सुनना चाहिये।'

साथ ही कर्म भी ऐसे करने चाहिये, जिनसे भक्तिकी जागृति और वृद्धि हो। भक्तिकामी पुरुषको निषिद्ध (पाप) कर्मोंका तो बिल्कुल ही त्याग कर देना चाहिये। जो विषयोंकी आसक्तिवश पापकर्मोंको नहीं छोड़ना चाहता और भक्त भी कहलाना चाहता है वह या तो स्वयं भ्रममें है या जान-बूझकर भ्रम फैलाना चाहता है।

भक्तिकी प्राप्तिमें सहायक कर्मोंमें प्रधान निम्नलिखित हैं—

१–अपने वर्ण और आश्रमके धर्मोंका यथासम्भव पूरा पालन। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासीके लिये त्यागपूर्ण आचरण और गृहस्थके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ माता-पिता, स्त्री-पुत्र-परिवार आदि आश्रित जनोंका प्रेम और सत्कारपूर्वक पालन, न्याय और सत्यपूर्वक जीविकानिर्वाह एवं शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, तप आदि।

२–सदाचारका पालन।

३–सत्संग और भगवद्गुणानुवादका श्रवण, चिन्तन और कीर्तन।

४–भगवन्नामका जप, स्मरण और कीर्तन।

५–भगवत्-पूजन, स्तुति-प्रार्थना और नमस्कार।

६–संत-भक्तोंकी सेवा और श्रद्धापूर्वक उनकी आज्ञाका पालन।

७–तीर्थसेवन ।

८–दीन प्राणियोंपर दया और यथासाध्य तन-मन-धनसे उनकी सेवा ।

९–सब कर्मोंको भगवान्‌के प्रति अर्पण ।

१०–सब प्राणियोंमें भगवान्‌को देखनेका अभ्यास ।

श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १९ । २०–२४)

'मेरी अमृतके समान कल्याणमयी कथामें श्रद्धा, निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन, मेरी पूजामें पूर्ण निष्ठा, स्तोत्रोंके द्वारा मेरी स्तुति, मेरी सेवामें निरन्तर आदर, सब अंगोंसे मुझको नमस्कार, मेरे भक्तोंका विशेषरूपसे पूजन, सब प्राणियोंमें मुझे देखना, मेरे लिये ही सारे लौकिक कर्म करना, बातचीतमें केवल मेरे ही गुणोंकी चर्चा करना, मनको मुझमें ही अर्पण कर देना, समस्त

कामनाओंको छोड़ देना, मेरे लिये धन, भोग और सुखोंको त्याग देना और मेरे ही लिये यज्ञ, दान, होम, जप, तप और व्रतादि शास्त्रोक्त कर्मोंको करना। हे उद्धव ! आत्मनिवेदनपूर्वक इन धर्मोंके द्वारा मेरी उपासना करनेसे मनुष्योंको मेरी प्रेमरूपी भक्ति प्राप्त होती है। फिर उनको कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रह जाता।'

प्रबुद्धनामक योगीश्वरने महाराजा निमिसे प्रेमरूपा भक्तिकी प्राप्तिके साधन इस प्रकार बतलाये हैं—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः॥
सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि॥
श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्॥

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । २१--३१)

'जिसको अपना परम कल्याण जाननेकी इच्छा हो, उसे वेदके ज्ञाता और परब्रह्ममें स्थित शान्तस्वरूप गुरुकी शरण जाना चाहिये । और गुरुको ही आत्मा एवं इष्टदेव समझकर निष्कपट-भावसे उनकी सेवा करके उन भागवत धर्मोंको सीखना चाहिये जिनसे अपने आपको दे डालनेवाले परमात्मा हरि प्रसन्न हो जाते हैं । मनसे सब विषय-भोगोंमें वैराग्य, साधु-महात्माओंका सङ्ग, सब प्राणियोंके प्रति यथायोग्य (दीनोंके प्रति) दया, (समान अवस्थावालोंसे) मित्रता और (बड़ोंके प्रति) विनयका व्यवहार, तन-मन-धनसे पवित्र रहना, कष्ट सहकर भी अपने वर्णाश्रमधर्म-का पालनरूपी तप करना, शीत, उष्ण आदिको सहना, व्यर्थ बातचीतका त्याग या भगवान्‌का मनन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें समभाव, सर्वत्र सब जीवोंमें अपने आपको तथा ईश्वरको देखना, एकान्तमें रहना, घर आदिको भगवान्‌-का मानना, शुद्ध साधारण वस्त्र पहनना, जो कुछ भी मिले उसीमें सन्तोष मानना, भगवान्‌का गुण गानेवाले शास्त्रोंमें श्रद्धा रखना, दूसरे

शास्त्रोंकी निन्दा न करना, मन, वाणी और कर्मोंका संयम, सत्यभाषण, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखना, अद्भुत लीला करनेवाले श्रीहरिके जन्म, कर्म और गुणोंका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना, भगवान्‌के लिये ही सब विहित कर्म करना, यज्ञ, दान, तप, जप आदि सदाचार, अपने प्रिय लगनेवाले सब पदार्थ और स्त्री, पुत्र, घर तथा प्राणोंको भी परमात्माके अर्पण कर देना और इस प्रकार भगवान् ही जिनके आत्मा और स्वामी हैं ऐसे भक्तोंसे मित्रता करना, जड-चेतन जीवोंकी, मनुष्योंकी और उनमें भी साधुस्वभाववाले महापुरुषोंकी विशेषरूपसे सेवा करना, परस्परमें भगवान्‌के पवित्र यशका कथन करना और इस भगवद्गुणगानके द्वारा ही परस्पर प्रीति, तुष्टि और दुःखोंकी निवृत्ति करना—ये सब साधन सद्गुरुके समीप रहकर सीखने चाहिये। इस प्रकार बर्ताव करनेवाले और पाप-समूहके नाशक श्रीहरिका स्वयं स्मरण करने और दूसरोंसे कराने-वाले भक्तोंके हृदयमें इस साधनरूपा भक्तिके द्वारा प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न हो जाती है और उनका शरीर पुलकित हो जाता है, वह फिर प्रेममग्न हो जाते हैं।'

इस प्रकार श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीरामायण आदि भक्तिप्रधान ग्रन्थोंके श्रवण-पठनसे तथा उपर्युक्त प्रकारसे सत्संग, नाम-जप, नाम-कीर्तनादि भक्तिवर्धक सत्कार्योंके भगवत्प्रीत्यर्थ करनेसे भक्तिकी वृद्धि होती है। भक्तको सदा साधुस्वभाव और सत्कार्योंमें ही रत होना चाहिये, तभी उनकी भक्ति बढ़ती है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्यारे भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

(गीता १२ । १३—२०)

'जो किसी भी जीवसे द्वेष नहीं रखता, जो सबका मित्र और दयालु है, जो ममता और अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें समभाववाला और क्षमाशील है, जिसका चित्त निरन्तर मुझमें लगा है, जो सदा सन्तुष्ट है, मन और इन्द्रियोंको जीते हुए है, मुझमें दृढ़निश्चयी है और जिसने अपने मन-बुद्धिको मुझे सौंप रक्खा है वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है ।

जिससे किसी जीवको उद्वेग नहीं होता और जो स्वयं

किसीसे उद्विग्न नहीं होता; जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगोंसे छूटा हुआ है वह भक्त मुझको प्रिय है।

जिसको किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं है, जो शुद्ध, चतुर और उदासीन है, जो दुःखोंसे मुक्त है और 'मैं करनेवाला हूँ' इस अभिमानसे किसी कार्यका आरम्भ नहीं करता (सब कुछ भगवान्का ही किया मानता है) वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न कुछ चाहता ही है, जो शुभ और अशुभ किसी भी कर्मको आसक्ति और फलकी इच्छासे नहीं करता वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।

जो शत्रु-मित्रमें, मान-अपमानमें और सर्दी-गर्मी तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें समान भाव रखता है, जिसकी (मुझको छोड़कर) किसी भी पदार्थमें आसक्ति नहीं है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझता है, जो चित्त तथा वाणीसे केवल मेरा ही मनन और कथन करता है और जो किसी भी प्रकार जीवननिर्वाह होनेमें सन्तोष रखता है, जिसका अपना कोई घर नहीं है अर्थात् जो घरमें ममत्वरहित है या जो घर-द्वार सबको भगवान्के मान चुका है वह स्थिरबुद्धि भक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

जो श्रद्धावान् पुरुष मेरे ही परायण होकर उपर्युक्त धर्ममय अमृत-का भलीभाँति सेवन करते हैं वे भक्त तो मुझको अत्यन्त ही प्रिय हैं।'

श्रीभगवान्के बतलाये हुए ये लक्षण सिद्ध भक्तोंमें तो स्वाभाविक होते हैं और भक्तिके साधकोंको इन्हें अपना आदर्श मानकर इनके अनुसार आचरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

इस प्रकार भक्तिशास्त्रके अध्ययन-मननसे तथा भक्तिको बढ़ानेवाले साधनोंमें लगे रहनेसे भक्तको योगिजनदुर्लभ प्रेमरूपा भक्तिकी प्राप्ति होती है ।

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥ ७७ ॥

७७–सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदिका (पूर्ण) त्याग हो जाय ऐसे कालकी बाट देखते हुए आधा क्षण भी (भजन बिना) व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भक्तिकी सिद्धि होनेपर सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि सारे द्वन्द्व स्वयमेव मिट जाते हैं और फिर किसी पदार्थकी इच्छा नहीं रहती । परन्तु ऐसे शुभ समयकी केवल बाट ही देखी जाय और साधन कुछ भी न किया जाय तो वर्तमान हीन दशाका विनाश होकर अचानक वैसी शुभ दशा अपने-आप प्राप्त होगी ही कैसे ? फिर, मनुष्यके जीवनका एक क्षणका भी पता नहीं है, न मालूम किस पलमें प्रलय हो जाय, कब मृत्यु आ जाय; इसलिये 'अमुक स्थिति हो जानेपर भगवान्‌का भजन करूँगा' ऐसी धारणाको छोड़ देनी चाहिये और अभी जो जिस अवस्थामें है, उसे इसी अवस्थामें भगवान्‌की कृपाका आश्रय करके साधना आरम्भ कर देनी चाहिये । आधे क्षणके लिये भी विलम्ब नहीं करना चाहिये । कबीरजी कहते हैं—

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पलमें परलै होयगी, फेरि करैगा कब॥

पलक मारते-मारते मृत्युके ग्रास बन जाओगे, फिर कब करोगे। यह मत समझो कि 'अभी छोटी उम्र है, खेलने-खाने और विषय भोगनेका समय है; बड़े-बूढ़े होनेपर भजन करेंगे।' कौन कह सकता है कि तुम बड़े-बूढ़े होनेसे पहले ही नहीं मर जाओगे। मौतकी नंगी तलवार तो सदा ही सिरपर झूल रही है। इसपर एक दृष्टान्त है। एक भ्रमर था, वह कमलके अंदर बैठा कमलका रस पी रहा था और उसकी सुगन्धसे मस्त हो रहा था; इतनेमें सन्ध्या हो आयी। सूर्यके छिपते ही कमल सङ्कुचित हो जाता है, अतएव कमल बंद हो गया और मोटे-मोटे शाल और शीशमके पेड़ोंको छेद डालनेकी ताकत रखनेवाला भ्रमर विषयासक्तिके कारण उसके अंदर ही रह गया, और विचार करने लगा—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

'रात बीत जायगी, प्रातःकाल होगा, सूर्य उदय होंगे और जब उनकी किरणोंके पड़ते ही कमल फिर खिल जायगा तब मैं इसमेंसे निकल जाऊँगा। इतने आनन्दसे मकरन्दरसका आस्वादन करता रहूँ।' वह यों विचार कर ही रहा था कि इतनेमें एक मतवाले हाथीने आकर कमलको उखाड़कर मुँहमें डाल लिया और

कमलके साथ ही भौंरा भी हाथीके दाँतोंमें पिस गया। उसके मनका मनोरथ मनहीमें रह गया। अतएव इन विचारोंको तो छोड़ ही देना चाहिये कि अमुक काम होनेपर भजन करेंगे। प्रथम तो मनमानी कामनाओंकी पूर्ति होती ही नहीं और यदि होती है तो एक कामनाकी पूर्ति अनेकों नये-नये अभावोंको साथ लेकर आती है, फिर उनकी पूर्तिके प्रयत्नमें लग जाना पड़ता है। अपूर्ण और अभावमय क्षणभङ्गुर सांसारिक पदार्थोंसे कभी पूर्ण तृप्ति हो ही नहीं सकती। कितनी ही प्राप्ति हो जाय, रहेगा अभाव ही, और अभावके दुःखसे जलते हुए ही विषयकामी मनुष्यको मर जाना पड़ेगा। इसलिये विषयोंकी पूर्ण प्राप्ति और विषयोंके भोगसे पूर्ण तृप्ति हो जाय ऐसे समयकी आशा छोड़कर पहलेसे ही भजनमें लग जाना चाहिये।

इसके सिवा एक बात और विचारणीय है कि आज अच्छे संगसे हमारे मनमें भगवान्‌को या भगवान्‌की भक्तिको प्राप्त करनेकी इच्छा हुई है, और हमने क्षणभरके लिये अपने जीवनका ध्येय भगवत्प्राप्ति माना है; परन्तु हम विचार करते हैं कि अमुक स्थिति हो जानेपर इस ध्येयकी प्राप्तिके लिये साधन किया जायगा। क्या हमारा यह विचार धोखेका नहीं है? प्रथम तो यही निश्चय नहीं कि अमुक स्थिति प्राप्त हो, और फिर यह कौन कह सकता है कि तबतक हमारा ध्येय नहीं बदल जायगा। परन्तु यदि आज हम अपने ध्येय भगवत्प्राप्तिके साधनमें लग जाते हैं तो साधनमार्गमें ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेंगे त्यों-त्यों हमारा उसमें विशेष अनुराग होगा,

लाभ भी प्रतीत होगा और अभ्यास भी दृढ़ होता जायगा । इसके विपरीत यदि हम केवल ध्येयमात्र मानकर ही चुप रह जाते हैं तो दूसरे ही क्षण, दूसरा संग मिलनेपर हमारा यह ध्येय बदल जायगा इसलिये कालकी प्रतीक्षा न कर अभीसे भजन-साधन आरम्भ कर देना चाहिये । सत्संगसे प्राप्त सदिच्छाके सुअवसरको खो नहीं देना चाहिये । स्वास्थ्य भी सदा अच्छा रहेगा, यह भी निश्चय नहीं है । जबतक स्वास्थ्य ठीक है तभीतक साधन-भजन होता है । स्वास्थ्य बिगड़ जानेपर, इन्द्रियोंके अशक्त हो जानेपर और बुढ़ापा आ जानेपर, यदि पहले पूरा अभ्यास नहीं किया गया है तो भजनमें मन ही नहीं लगेगा । महाराजा भर्तृहरिने इसीलिये कहा है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

(वैराग्यशतक)

'जबतक शरीर स्वस्थ है, बुढ़ापा नहीं आया है, इन्द्रियोंकी शक्ति पूरी बनी हुई है, आयुके दिन शेष हैं, तभीतक बुद्धिमान् पुरुषको अपने कल्याणके लिये अच्छी तरह यत्न कर लेना चाहिये । घरमें आग लग जानेपर कुँआ खोदनेसे क्या होगा ?'

इसीलिये भक्तगण भगवान्‌के शरण होकर पुकारा करते हैं—

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनं
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्न दिवसाः कालो जगद्भक्षकः ।

लक्ष्मीस्तोयतरङ्गभङ्गचपला विद्युच्चलं जीवितं
तस्मान्मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना ॥

'आयु प्रतिदिन देखते-देखते नष्ट हो रही है, जवानी बीती जा रही है, गये हुए दिन लौटकर नहीं आते, काल जगत्को खा रहा है, लक्ष्मी जलके तरंगकी भाँति चञ्चल है और जीवन तो बिजलीकी चमकके समान अस्थिर है; अतएव हे शरण देनेवाले प्रभु ! मुझ शरणागतकी तुम अभी रक्षा करो ।'

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

'हे कृष्ण ! तुम्हारे पदकमलरूपी पिंजरेमें मेरा यह मनरूपी राजहंस आज ही प्रवेश कर जाय । प्राण निकलनेके समय जब कफ, वायु और पित्तके बढ़नेपर कण्ठ रुक जायगा उस समय तुम्हारा स्मरण कहाँसे होगा ?'

अतएव जरा-सा भी समय भगवान्के भजनके बिना नहीं बिताना चाहिये । जो समय भगवद्भजनमें जाता है वही सार्थक है, शेष सब व्यर्थ है । समयका मूल्य समझकर एक-एक साँसको खूब सावधानीके साथ कंजूसके परिमित पैसोंकी भाँति केवल भगवच्चिन्तनमें ही लगाना उचित है । भजनहीन काल ही वास्तवमें हमारे लिये भयङ्कर काल है ? वही सबसे बड़ी विपत्ति है ।

कह हनुमान बिपति प्रभु सोई । जब तव सुमिरन भजन न होई ॥

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः ।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न कीर्तयेत् ॥

'जो घड़ी या एक क्षण भी श्रीभगवान्‌के कीर्तन बिना बीत गया उसीको सबसे बड़ा नुकसान, अज्ञान और मोह जानना चाहिये ।'

भगवान्‌के भजनके लिये किसी भी सुभीतेके समयकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये । नहीं तो हमारा अमूल्य मनुष्यजीवन ही वृथा नष्ट हो जायगा । भगवान्‌का भजन ही मनुष्यजीवनका सर्वोत्तम और आदरणीय कर्म है । भजन करते-करते भगवान्‌की कृपासे एक दिन हमारे सारे सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंका अपने आप ही नाश हो जायगा, और भगवत्प्रेमकी निर्मल ज्योतिसे हमारा हृदय जगमगा उठेगा; सब दिशाएँ और सारा ब्रह्माण्ड उस निर्मल शीतल स्निग्ध ज्योतिसे भर जायगा, और तब हमारे आनन्दकी कोई सीमा नहीं रहेगी ।

वस्तुतः भक्तका काम तो यह सोचना भी नहीं है कि भजनका क्या परिणाम होगा; उसका काम तो केवल प्रेमपूर्वक भजन ही करना है । प्रेमके लिये ही प्रेम करना है, भजनके लिये ही भजन करना है । भजन करना उसका स्वभाव ही बन जाता है, भजन बिना उससे रहा ही नहीं जाता । वह सब कुछ सह सकता है, किन्तु भजनका वियोग उसके लिये असह्य है ।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।

न चलति भगवत्पदारविन्दा-
लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥
(११ । २ । ५३)

'यदि भगवान्‌के भक्तसे कहा जाय कि तुम आधे क्षण या आधे निमेषके लिये भी भगवच्चरणोंका चिन्तन छोड़ दो और त्रिलोकीके सम्पूर्ण वैभवको ले लो तो वह इस बातको स्वीकार नहीं करता। उसका चित्तरूपी भ्रमर तो अचञ्चलरूपसे भगवान्‌के उन चारु चरणकमलोंमें ही लगा रहता है, जिनको निरन्तर ध्यानपूर्वक खोजनेपर भी देवता नहीं पा सकते। ऐसा वह भक्त कुछ भी नहीं चाहता।' वह बार-बार कातर कण्ठसे यही कहता है कि मुझे न मोक्ष चाहिये, न ज्ञान चाहिये, न वैभव चाहिये, न ऋद्धि-सिद्धि चाहिये और न महान् कीर्ति ही चाहिये। किसी भी योनिमें जाना पड़े, कुछ भी हो, इसकी भी तनिक-सी चिन्ता नहीं। बस, हे मेरे प्रियतम! तुम्हारे चरणोंमें मेरा प्रेम, बिना किसी हेतुका प्रेम, पगला प्रेम, अन्धा प्रेम, प्रेममय प्रेम, प्रियतममय प्रेम दिनोंदिन बढ़ता ही रहे।

जनम जनम रति रामपद यह बरदान न आन ॥

श्रीशङ्कराचार्य जगज्जननीरूप भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

न मोक्षस्याकाङ्क्षा वरविभववाञ्छापि च न मे
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः ।
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः ॥

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि ॥ ७८ ॥

७८–(भक्तिके साधकको) अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारोंका भलीभाँति पालन करना चाहिये।

छिहत्तरवें सूत्रमें भक्तिको बढ़ानेवाले कर्मोंका आचरण करनेकी बात कही गयी है। इस सूत्रमें उन क्रियाओं और सद्‌गुणोंमेंसे पाँच प्रधान आचारोंका नाम निर्देश करके सूत्रकार इनके पालनकी अत्यन्त आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं।

दैवी सम्पत्तिके गुण भक्तका बाना है। जहाँ भक्ति है वहाँ दैवी सम्पत्तिका होना अनिवार्य है। कुछ लोग भूलसे ऐसा कह दिया करते हैं कि 'भक्ति करो; भक्तमें सद्‌गुण न हो तो न सही। मनुष्य चाहे जितने पाप करे; बस भक्त हो जाय; फिर कोई परवा नहीं।' परन्तु उनका यह कथन वैसे ही युक्तिविरुद्ध है जैसे यह कथन कि 'सूर्य उदय हो जाय, फिर वहाँ अन्धकार भले ही बना रहे।' जहाँ सूर्य उदय हो गया, वहाँ अन्धकार न रहकर प्रकाश छा ही जाता है इसी प्रकार जहाँ भक्तिरूपी सूर्यका उदय हो गया है वहाँ उसका प्रकाशरूप दैवी सम्पत्ति अवश्य फैल जायगी। यह किसी अंशमें सत्य है कि भगवत्प्राप्त महात्मा भक्त पुरुषोंके बाहरी आचरणोंसे उनकी परीक्षा नहीं होती। परन्तु कुछ गुण तो ऐसे हैं ही जिनका उनमें प्रकट रहना अत्यन्त ही आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। उन्हीं गुणोंमें ये पाँचों गुण भी

हैं । जिस पुरुषमें ये गुण न हों, वह यदि कदाचित् साधु या भक्त भी हो तो भी उससे डरना ही चाहिये । बल्कि अधिकांशमें तो इन गुणोंसे रहित मनुष्य साधु या भक्त होते ही नहीं । अपनी परीक्षा तो साधकको इन्हीं गुणोंके आधारपर करनी चाहिये । यह निश्चय रखना चाहिये कि यदि भगवान्‌का चिन्तन और दैवी सम्पत्ति बढ़ रही है तो हमारी भक्तिमार्गमें उन्नति हो रही है; यदि जगत्‌का चिन्तन होता है और दैवी सम्पत्ति नहीं बढ़ रही है तो हमारी उन्नति नहीं हो रही है एवं यदि विषयोंका चिन्तन बढ़ रहा है और आसुरी सम्पत्ति बढ़ रही है तो हमारी निश्चय ही अवनति हो रही है । भगवान्‌का प्रेमपूर्वक चिन्तन भक्तका धर्म है और दैवी सम्पदाके गुण उसकी जीवनपद्धति है । वह सब कुछ छोड़ देता है, परन्तु इन दोनोंको नहीं छोड़ता । अवश्य ही लीलामय भगवान्‌की आज्ञा या रुचिके अनुसार सिद्ध भक्तको कहीं-कहीं जीवनपद्धति बदलनी पड़ती है । परन्तु वह नियम नहीं है, अपवाद है । यह निश्चय है कि वह किसी प्रकारकी भी आसक्ति, ममता, कामना, वासना, अहंकार या मोहवश जीवनपद्धतिको नहीं बदलता । जहाँ किसी कारणवश किसी समय उसकी जीवन-पद्धतिमें और उसके स्वाभाविक स्वधर्म भगवत्प्रेममें विरोध आता दीखता है वहीं भगवान्‌की आज्ञा लेकर वह अपने स्वधर्मकी रक्षाके लिये नीतिको छोड़ देता है। ऐसे ही स्थलोंके लिये—भरत, प्रह्लाद, विभीषण, श्रीगोपीजन आदिके उदाहरण मिलते हैं, जहाँ उन्होंने भगवान्‌के लिये माता, पिता, भाई और पति आदिकी आज्ञाओंका उल्लङ्घन किया है । परन्तु वहाँ भी देखा जाय तो

सदाचार-नीतिका त्याग नहीं हुआ है। प्रेमधर्मके पालनार्थ भक्तोंने प्रायः स्वयं ही कष्ट सहा है। उस अवस्थाकी बात दूसरी है जिसमें सारे विधि-निषेधोंका भगवान्के चरणोंमें समर्पण हो जाता है। परन्तु स्मरण रहे, वह समर्पण होता है, किया नहीं जाता। विधि-निषेधोंका बोझ उस बावले भक्तके सिरसे उतार लिया जाता है, वह जानकर नहीं उतारता। और उस मस्तीमें भी उसमें कोई दुर्गुण रहता हो सो बात नहीं है। परन्तु यहाँ तो साधककी चर्चा हो रही है और साधकको बड़ी ही सावधानीके साथ शास्त्र-विहित सद्गुणों और सदाचारोंका रक्षण और पालन करना चाहिये। सूत्रकारने जिन पाँच गुणोंका नाम लिया है उनका स्वरूप संक्षेपमें यों समझना चाहिये।

अहिंसा—शरीर, मन और वाणीसे किसी भी जीवको किसी प्रकारसे वर्तमान या भविष्यमें दुःख नहीं पहुँचाना, वरं सदा सबको सुखी बनानेकी चेष्टामें लगे रहना।

सत्य—जैसा देखा, सुना या समझा हो, वचन, लेखन या सङ्केतसे ठीक वैसा ही दूसरेको समझानेकी नीयत रखना। वाणीसे ऐसे ही शब्दोंका उच्चारण करना जो सत्य हों और साथ ही मधुर और हितकारी भी हों। कुछ लोग सत्यभाषणमें कठोर भाषाका प्रयोग आवश्यक समझते हैं और अभिमानवश कह बैठते हैं कि हम तो सत्य कहनेवाले हैं, चाहे उससे किसीका जी दुखी हो या सुखी! परन्तु ऐसी बात नहीं है। द्वेष, वैर, निन्दा, चुगली आदि भावोंसे बचाकर वाणीको अपने और दूसरेके हितकी दृष्टिसे सदा मधुरता

और सत्यमें ही सनी रखनी चाहिये। जैसे चन्द्रमाकी चाँदनी प्रकाश देनेवाली होनेके साथ ही शीतल भी होती है, इसी प्रकार भक्तकी वाणी भी सत्य और मधुर—प्रकाशक और शान्तिदायक होनी चाहिये। जिससे दूसरेका अहित होता हो वह सत्य भी वाञ्छनीय नहीं है।

शौच—बाहरी और भीतरी दोनों प्रकारके शौचकी आवश्यकता है।

बाहरी—

(क) जल, मिट्टी आदिसे शरीरको पवित्र रखना।

(ख) दूसरेका स्वत्व न छीनकर सत्यतापूर्वक निर्दोषरूपसे कमानेकी चेष्टा कर धनको शुद्ध रखना।

(ग) शुद्ध स्थानमें शुद्ध, स्नान किये हुए मनुष्यद्वारा, शुद्ध निरामिष अन्नसे बनाये हुए पदार्थोंको भगवदर्पण कर भोजनको शुद्ध करना।

(घ) शुद्ध, निष्कपट और प्रेमपूर्ण बर्तावसे व्यवहारको शुद्ध रखना।

(ङ) अतिथिसत्कार और भगवन्नामकी ध्वनिसे घरको पवित्र रखना।

(च) शास्त्रविहित आचरणोंसे अन्य सभी बाह्य कर्मोंको शुद्ध रखना।

भीतरी—दम्भ, वैर, अभिमान, आसक्ति, ईर्ष्या, द्वेष, शोक, पापचिन्तन, व्यर्थ विषयचिन्तन आदि दोषोंको मनमें यथासाध्य

न आने देकर, सरलता, प्रेम, विनय, वैराग्य, अद्वेष, प्रसन्नता, सच्चिन्तन और भगवच्चिन्तनके द्वारा मनको पवित्र रखना ।

दया—दुखी मनुष्य घरका या दूसरा हो, मित्र हो या शत्रु हो, उसको दु:खकी दशामें देखकर बिना किसी भेद-भावके मनका व्याकुल हो जाना और यथासाध्य कष्ट सहकर तथा त्याग करके भी उसके दु:खको दूर करनेकी चेष्टा करना । यह भाव सभी जीवोंके प्रति होना चाहिये और सभी कालमें होना चाहिये । जिस क्रियासे जीवोंका अहित होता हो और उन्हें दु:ख पहुँचता हो, उन क्रियाओंको त्याग देना चाहिये । इसी प्रकार देश या समाजमें जिन प्रथाओं और कृत्योंसे जीवोंका अहित होता हो, उन्हें बंद करानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

आस्तिकता—ईश्वर और शास्त्रोंपर प्रत्यक्षकी तरह पूर्ण विश्वास होना चाहिये । भगवान् हैं, सर्वव्यापी हैं, सर्वेश्वर हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, परम दयालु हैं, परम सुहृद् हैं, भक्तवत्सल हैं, दीनबन्धु हैं और सदा सर्वत्र विराजमान हैं, इन बातोंपर विश्वास करते ही सारे पाप-ताप अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं । भगवान्में विश्वास करनेकी आवश्यकता सबसे पहले और सबसे अधिक है । भगवान्के अस्तित्व और उनके प्रभाव तथा गुणोंपर विश्वास हो जायगा तो मन स्वतः ही भगवान्की ओर लग जायगा । मनुष्यको जो कुछ चाहिये, भगवान् सभीका भण्डार है । ज्ञान चाहिये, भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं; प्रेम चाहिये, भगवान् प्रेममय हैं; आनन्द चाहिये, भगवान्

आनन्दघन हैं; वैराग्य चाहिये, भगवान् परम विरागमय हैं; धन चाहिये, धनकी स्वामिनी लक्ष्मीजी अपनी चञ्चलताको छोड़कर निरन्तर उनकी चरणसेवा करती हैं; ऐश्वर्य चाहिये, सारा जगत् उन्हींके ऐश्वर्यके एक कणका प्रकाश है; यश चाहिये, यशकी धारा वहींसे निकलती है; सारांश यह कि संसारमें हम जो कुछ भी सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम, स्नेह, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धन, भोग, सुख आदि देखते हैं, और इन सब वस्तुओंके सम्बन्धमें जहाँतक हमारी ऊँची-से-ऊँची कल्पना होती है वह सब कुछ भगवान्के एक क्षुद्र अंशमें ही रह जाता है। हमारे इस जगत्के पदार्थ और पदार्थोंकी हमारी कल्पना उस अखिल सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्यादि सद्गुण-सागरकी एक बूँदकी भी बराबरी नहीं कर सकती। जो इस प्रकार भगवान्को जान लेता है और विश्वास कर लेता है वह भगवान्को छोड़कर आधे क्षणके लिये भी दूसरी ओर मन नहीं लगा सकता, और न वह जगत्के क्षणिक भोगोंके उदय और विनाशमें हर्ष और शोकको ही प्राप्त होता है। अवश्य ही आस्तिकतामें विश्वास सच्चा होना चाहिये। भगवान्की सत्ताके विश्वासमें हमें प्रह्लादका इतिहास सदा याद करना चाहिये। हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे सैकड़ों-हजारों दुर्दान्त दानव बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र लेकर प्रह्लादको मारने दौड़ते हैं। वह कहता है—

विष्णुः शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थितः।
दैतेयास्तेन सत्येन माक्रमन्त्वायुधानि च॥

(विष्णुपुराण १।१७।३३)

'अरे दैत्यो ! मेरे भगवान् विष्णु इन शस्त्रोंमें भी हैं, तुमलोगोंमें भी हैं और मुझमें भी हैं, वे सब जगह हैं। इस परम सत्यके प्रभावसे तुम्हारे इन शस्त्रास्त्रोंका मुझपर कोई असर न हो !'

दैत्योंके शस्त्र व्यर्थ हो गये, उनके आघातसे प्रह्लादको तनिक भी वेदना नहीं हुई।

विषधर सर्पोंमें और उनके विषमें, विशालकाय मतवाले हाथियोंमें और उनके वज्रके समान दाँतोंमें भी प्रह्लादने अपने भगवान्‌को देखा। प्रह्लादका उनसे कुछ भी नहीं बिगड़ा। प्रह्लादको आगमें डाला गया, अग्निमें उसे भगवान्‌की नवनीलनीरदमूर्ति दिखायी दी। उसने कहा—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि
न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि
शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि॥
(विष्णुपुराण १। १७। ४७)

'हे तात ! पवनसे प्रेरित यह अग्नि भी मुझे नहीं जलाता। मुझको तो सभी दिशाएँ ऐसी शीतल प्रतीत होती हैं, मानो मेरे चारों ओर कमलके पर्दे टँगे हों।'

प्रह्लादको मारनेके लिये पुरोहितोंने 'कृत्या' उत्पन्न की और जब प्रह्लादको मारनेमें निष्फल होकर कृत्याने पुरोहितोंको ही मार डाला, तब प्रह्लाद बोले—

यथा सर्वेषु भूतेषु सर्वव्यापी जगद्गुरुः।
विष्णुरेव तथा सर्वे जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥

यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम् ।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः ॥
(वि० पु० १ । १८ । ४०-४१)

'सर्वव्यापी जगद्गुरु भगवान् विष्णु सब प्राणियोंमें व्याप्त हैं, इस सत्यके प्रभावसे ये पुरोहित जीवित हो जायँ । यदि मैं सर्वगत और अक्षय विष्णुभगवान्को मुझे मारनेकी चेष्टा करनेवालोंमें भी देखता हूँ तो ये पुरोहित जी जायँ ।'

प्रह्लादकी दृढ़ आस्तिकतासे पुरोहित जी उठे ।

अन्तमें हिरण्यकशिपुके पूछनेपर प्रह्लादने बड़ी दृढ़ताके साथ अडिग निश्चयसे छाती ठोंककर कहा—'हाँ, मेरे प्रभु सर्वत्र हैं, इस खम्भेमें भी हैं ।' अपने सेवकके इस वाक्यको प्रत्यक्ष सत्य करनेके लिये भगवान् खम्भेको चीरकर प्रकट हो गये । कैसा निश्चय और कैसा अद्भुत परिणाम ! यह है आस्तिकता ।

भक्तोंको यथासाध्य आस्तिक बने रहनेकी और आस्तिकतामें निरन्तर अग्रसर होनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

सूत्रकारने 'आस्तिक्य' के साथ 'आदि' शब्द जोड़कर दैवी सम्पदाके अन्यान्य दैवी गुणोंकी ओर सङ्केत किया है । श्रीमद्भगवद्गीतामें दैवी सम्पत्तिके ये छब्बीस गुण बतलाये गये हैं । भगवान् कहते हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(१६ । १-३)

'हे भारत ! निर्भयता, अन्तःकरणकी शुद्धि, भगवान्‌के स्वरूपमें निरन्तर दृढ़ स्थिति (आस्तिकता), दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोधहीनता, त्याग, शान्ति, किसीकी निन्दा या चुगली न करना, सब प्राणियोंपर दया, लोभ-रहित होना, कोमलता, ईश्वर और शास्त्रविरुद्ध कर्मोंमें लज्जा, अचञ्चलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोहिता और अभिमानशून्यता— ये सब गुण दैवी सम्पदाको प्राप्त हुए पुरुषमें रहते हैं।' यह दैवी सम्पत्ति भक्तमें ही रहती है। इसीलिये भक्तोंको 'देव' कहा गया है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
विष्णुभक्तः[१] स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः॥

(पद्मपुराण)

'इस जगत्‌में दो प्रकारके जीव हैं—एक दैव और दूसरे आसुर। जो भगवान्‌के भक्त हैं, वह दैव हैं, जो भक्त नहीं हैं, वही आसुर हैं।'

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥ ७९ ॥

१. यहाँ 'विष्णु-भक्त' शब्दसे शास्त्रानुसार भगवान्‌के किन्हीं भी नाम-रूपका सात्त्विक भक्त समझना चाहिये। भगवान्‌के नाम-रूपोंमें भेद मानना तो अपराध ही माना गया है।

७९–सब समय, सर्वभावसे निश्चिन्त होकर (केवल) भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये ।

यह सूत्र बड़े ही महत्त्वका है । इसमें देवर्षिने प्रेममार्गी भक्तके भगवद्भजनका बड़ा ही सुन्दर प्रकार बतलाया है । वास्तवमें जो पुरुष भगवान्‌के दिव्य गुण, रहस्य और प्रभावको यथार्थरूपसे जान लेता है; जानना दूर रहा, संतोंद्वारा सुनकर उसपर विश्वास कर लेता है, वह भगवान्‌को छोड़कर किसी भी कालमें मन-वाणी-शरीरसे दूसरा काम नहीं कर सकता । भगवान् शङ्कर कहते हैं—

उमा राम सुभाउ जिन्ह जाना । तिन्हहि भजन तजि भाव न आना ॥

दरिद्र मनुष्यको कहीं पारस मिल जाय तो वह दूसरी ओर क्यों ताकेगा ? एकमात्र भगवान् ही परमतत्त्व हैं, भगवान् ही सबकी गति हैं, भगवान् ही सर्वाधार हैं, भगवान् ही सर्वशक्तिमान्, सकल दिव्य गुणनिधान, सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यकी निधि, ज्ञान और वैराग्यके स्वरूप, आनन्द-कन्द-विग्रह हैं और इतना सब होते हुए भी वे हमारे परम सुहृद् हैं, हमें गले लगानेके लिये सदा हाथ पसारे खड़े-खड़े हमारी बाट देखा करते हैं—इस बातको जान लेनेपर सकामी या अकामी, विषयी या मुमुक्षु, साधक या सिद्ध, कौन ऐसा पुरुष है जो भगवान्‌को छोड़कर एक क्षणार्धके लिये भी दूसरेको भजे ? हम नहीं भजते, इसका कारण यही है कि हमने उनके प्रभावको जाना नहीं है । सुना है तो उसपर विश्वास नहीं किया है । देवर्षि कहते हैं कि विश्वास करो, और निरन्तर मन-वाणी-शरीरसे केवल उन्हीं परम प्रियतम भगवान्‌का भजन करो; मनसे

सारी चिन्ताओंको दूर कर दो। समस्त चिन्तनोंसे चित्तको मुक्त कर दो। जैसे छोटा शिशु माँकी गोदमें जाकर निश्चिन्त हो जाता है ऐसे ही प्रभुके दास बनकर निश्चिन्त हो जाओ। जिसके रखवारे राम हैं, उसे किस बातकी चिन्ता होनी चाहिये। सब कुछ छोड़कर, सबकी आशा त्यागकर, भगवान्‌के सामने सबको तुच्छ मानकर, उस दिव्यातिदिव्य मधुर सुधारसके सामने जगत्‌के सारे रसोंको फीका समझकर, उस कोटि-कोटि कन्दर्पदर्पदलन, सौन्दर्यसार श्याम-सुन्दरके स्वरूपके सामने जगत्‌की समस्त रूपराशिको नगण्य मानकर उसीके भजनमें लग जाओ, चित्तको उसीके अर्पण कर दो, सब प्रकारसे उसीपर निर्भर हो जाओ, मनसे उसीका स्मरण करो, बुद्धि-से उसीका विचार करो, वाणीसे उसीके गुणानुवाद गाओ, कानोंसे उसीके गुण और लीलाओंको सुनो, जीभसे उसीके प्रसादका रस लो, नासिकासे उसीकी पदपद्मपरागगन्धको सूँघो, शरीरसे सर्वत्र उसीके स्पर्शका अनुभव करो, नेत्रोंसे उसी छबिधामकी छबिको सर्वत्र सर्वदा देखो, हाथोंसे उसीकी सेवाकरो, तन-मन-धन सब उसीके अर्पण कर दो।

जबतक तुम जगत्‌के पदार्थोंको अपने मानते रहोगे, उनमें ममत्व रक्खोगे, तबतक कभी निश्चिन्त नहीं हो सकोगे; ये नाशवान् क्षणभङ्गुर परिवर्तनशील पदार्थ कभी तुम्हें निश्चिन्त नहीं होने देंगे, इनपरसे ममत्व और आसक्तिको हटा लो; ये जिनकी चीजें हैं, उन्हें सौंप दो; बस, जहाँ तुमने इनको भगवान्‌के समर्पण किया कि वहीं निश्चिन्त हो गये। फिर न नाशका भय है, न अभावकी चिन्ता है

और न कामनाकी जलन है । और जहाँ निश्चिन्त होकर भजनमें लगे कि वहीं तुम्हें उस दिव्य आनन्द-माधुर्य-सौन्दर्यसागरकी झाँकी बीच-बीचमें दीखने लगेगी, फिर तुम्हारा चित्त दूसरी ओर जाना ही नहीं चाहेगा । ऐश्वर्यकी ओर दृष्टि ही नहीं जायगी—और कहीं ऐश्वर्यकी कोई वासना रह भी गयी तो समस्त ऐश्वर्योंका खजाना उनके चरणोंमें ही तुम्हें मिल जायगा । इसीलिये विषयासक्तिरूपी व्यभिचारको त्यागकर उस एकमात्र प्राणाराम प्रियतम प्रभुकी प्यारी पतिव्रता पत्नी बन जाओ। इसीलिये श्रीसुन्दरदासजी महाराजने कहा है—

पतिहीसूँ प्रेम होय, पतिहीसूँ नेम होय,
पतिहीसूँ छेम होय, पतिहीसूँ रत है।
पति ही है जग्य-जोग, पति ही है रसभोग,
पतिहीसूँ मिटै सोग, पतिहीको जत है॥

पतिहीको ग्यान-ध्यान, पतिहीको पुन्न-दान,
पति ही है तीर्थस्नान, पतिहीको मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं
'सुन्दर' सकल बिधि, एक पतिब्रत है॥

जलको सनेही मीन बिछुरत तजै प्रान,
मनि बिनु अहि जैसे जीवत न लहिये।
स्वातिबिंदुको सनेही प्रगट जगत माँहिं,
एक सीप दूसरो सु चातकहु कहिये॥
रबिको सनेही पुनि कमल सरोवरमें,
ससिको सनेही हू चकोर जैसे रहिये।
तैसे ही 'सुन्दर' एक प्रभुसूँ सनेह जोर,
और कुछ देखि काहू ओर नाहि बहिये॥

भगवान् स्वयं आज्ञा करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

'हे अर्जुन! तुम मुझमें ही मन लगाओ, मेरे ही भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो, मुझको ही नमस्कार करो, फिर निश्चय मुझको ही प्राप्त होओगे, यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। दूसरे सारे धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एक मेरे ही अनन्य शरण हो जाओ। मैं तुमको सारे पापोंसे आप ही छुड़ा दूँगा, तुम चिन्ता न करो!'

भगवान्‌का इतना प्रतिज्ञायुक्त आश्वासन पाकर भी यदि हम सर्वदा सर्वभावसे निश्चिन्त होकर भगवान्‌को नहीं भजते तो हम-सरीखा अभागा और कौन होगा?

अतएव इसी बातमें अपना परम कल्याण समझकर, उठते-बैठते, सोते-जागते सर्वदा सब कार्योंमें हमें श्रीभगवान्‌की पवित्र सत्ताके दर्शन करते हुए, हानि-लाभ और जन्म-मरणकी चिन्ताको छोड़कर निश्चिन्त अनन्य चित्तसे श्रीहरिका ही भजन-कीर्तन करना चाहिये।

प्रेमा भक्तिका फल और भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ॥ ८० ॥

८०—वे भगवान् (प्रेमपूर्वक) कीर्तित होनेपर शीघ्र ही प्रकट होते हैं और भक्तोंको अपना अनुभव करा देते हैं।

इससे पहले सूत्रके अनुसार अनन्य भजन करनेसे भगवान् शीघ्र ही साक्षात् प्रकट होकर भक्तको अपने स्वरूपका अनुभव करा देते हैं। यहाँ 'आविर्भवति' शब्दसे भगवान्का अखिल दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-रससार साकाररूपमें प्रकट होना समझना चाहिये। वस्तुत: निर्गुण-सगुण और निराकार-साकारमें कोई भेद नहीं है। वही मन-बुद्धिके अगोचर ब्रह्म हैं, वही सृष्टिकर्ता सगुण-निराकार विभु हैं, वही जगदात्मा हैं, वही श्रीराम और श्रीकृष्ण हैं, वही महाशिव, महाविष्णु, महादेवी हैं, वही यह विराट् पुरुष हैं। उनसे भिन्न कुछ है ही नहीं। जब रसीले, हठीले भक्तके प्रेमका आकर्षण होता है तब वह अपनी दिव्याह्लादिनी शक्तिको निमित्त बनाकर दिव्य चिन्मय वस्त्र, माला, गन्ध, आयुध, आभूषणादिसे सुसज्जित सौन्दर्यनिधिरूपमें प्रकट होकर भक्तको कृतार्थ करते हैं।

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

परन्तु यह बात नहीं है कि यह रूप जगत्-प्रसविनी माया-द्वारा निर्मित होता है। इसमें सभी चीजें दिव्य, शुद्ध, नित्य, चिन्मय

और भगवत्स्वरूप होती हैं। इसीसे इस दिव्य रसमय स्वरूपके सामने आते ही आत्मज्ञानी मुनियोंके मरे हुए मन भी जीवित होकर इस स्वरूपकी एक-एक वस्तुपर मुग्ध हो जाते हैं। जिन इन्द्रियोंके विकाररूप रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शसे मुमुक्षु-अवस्थामें ही चित्त उपराम हो जाता है उन्हीं रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शके प्रति मुनियों और आत्मज्ञानियोंका आकर्षित होना यह सिद्ध करता है कि भगवान्‌के दिव्य स्वरूपके ये रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शादि विषय मायाके कार्य त्रिगुणोंसे उत्पन्न नहीं हैं। ये सर्वगुणसम्पन्न और सदा निर्गुण प्रभुके स्वरूप ही हैं। इसीसे मुनिगण इनपर मोहित हो जाते हैं। इसीलिये वेदान्तके प्रधान आचार्य श्रीशङ्कराचार्य भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें कहते हैं—

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान् वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा॥

(प्रबोधसुधाकर २४२)

'जिन्होंने ब्रह्माजीको अनेक ब्रह्माण्ड, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अलग-अलग अद्भुत ब्रह्मा, वत्सोंसहित समस्त गोप तथा विभिन्न ब्रह्माण्डोंके सब विष्णुस्वरूपोंको दिखाया, जिनके चरणोदकको श्रीशम्भु अपने सिरपर धारण करते हैं वे श्रीकृष्ण त्रिमूर्ति (ब्रह्माण्डोंमें विभिन्न स्वरूपोंसे शासन करनेवाले अंशावतार ब्रह्मा, विष्णु, महेश) से अलग ही कोई अविकारिणी सच्चिदानन्दमयी नीलिमा हैं।'

एक बार दिव्य वैकुण्ठलोकमें भगवान् श्रीमहाविष्णुके समीप नित्य आत्मनिष्ठ सनकादि ऋषि पधारे। ज्यों ही वे भगवान्के सामने पहुँचे और उनके स्वरूपकी ओर देखा कि मुग्ध हो गये। भगवान्की सुन्दरता देखते-देखते उनके नेत्र किसी प्रकार तृप्त ही नहीं होते थे। भगवान्के सौन्दर्यने ही उन्हें मोहित किया हो सो नहीं, प्रणाम करते समय कमलनयन श्रीहरिके पादपद्मपरागसे मिली हुई तुलसी-मञ्जरीकी सुगन्ध वायुके द्वारा नासिकामार्गसे ज्यों ही मुनियोंके अन्तरमें पहुँची कि उन नित्य अचलरूपसे ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेवाले मुनियोंका हृदय क्षुब्ध हो गया, उस सुगन्धकी ओर खिंच गया, उसपर मोहित हो गया और आनन्दसे उनके रोमाञ्च हो आया—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥
(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

यही हाल भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणके स्वरूपको देखकर ब्रह्मविद्वरिष्ठ ज्ञानिश्रेष्ठ विदेहजनकका हुआ—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥

उस रूपराशिके सामने आते ही विदेहका ज्ञान मानो मूर्छित हो गया, देहकी सुधि जाती रही, आँखोंमें आँसू आ गये। जनक-जीने देखा यह क्या हो गया! बालकोंके सौन्दर्यपर—नेत्रोंके विषय-

पर जनकके मनमें मोह कैसा ? विवेकसे, धीरजसे अपनेको सँभाला; परन्तु पूछे बिना नहीं रहा गया। विश्वामित्रजीके चरणोंमें प्रणामकर राजाने बोलना चाहा, परन्तु विवेक हृदयकी द्रवताको दूर नहीं कर सका; बोलते-बोलते ही वाणी गद्गद—और भरी-भरी हो गयी ! राजाने अपनी हालतका बयान करते हुए क्या पूछा, जरा सुनिये—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

मुनिने मुसकराते हुए राजाके अनुमानका समर्थन किया।

इस प्रकार जिस स्वरूपको बार-बार देखकर भी देखनेकी इच्छा बढ़ती ही रहती है, वह कुछ विलक्षण ही वस्तु है। संसारमें कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसे बार-बार देखनेपर भी देखनेकी इच्छा बढ़े। अनुभव तो यह कहता है कि जिस वस्तुके देखनेकी इच्छा प्रबल होती है, उसके मिलनेपर प्रथम दर्शनमें तो बड़ा ही आनन्द होता है; पर फिर ज्यों-ज्यों वह दर्शन सुलभ होता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसके प्रति आकर्षण कम होता चला जाता है। परन्तु भगवान्‌का सौन्दर्य ऐसा है कि उसे देखते-देखते कभी तृप्ति ही नहीं होती। ज्यों प्रेमी भक्तका प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता रहता है त्यों ही भगवान्‌की सौन्दर्यछटा भी प्रतिक्षण अधिकाधिक बढ़ती ही रहती है। पल-पलमें नया-नया सौन्दर्य, अधिकाधिक आकर्षक माधुरी दिखायी देती है। ऐसा वह भगवान्‌का स्वरूप मायिक नहीं होता। वह सर्वथा दिव्य होता है और जिस क्षण वह भक्तके

सामने उसके प्रेमके आकर्षणसे प्रकट होता है, उसी क्षण उसे दिव्यभावापन्न करके अपने स्वरूपका अनुभव करा देता है। जबतक वह माधुरी सामने रहती है, तबतक भक्त किसी दिव्य राज्यमें रहता है। उसका सब कुछ दिव्य हुआ रहता है। उस कालमें वह सिवा भगवान्‌के माधुर्यके और कुछ भी नहीं देखता, सुनता। वह तन्मय हो जाता है और उसे भगवान्‌का यथार्थ अनुभव हो जाता है।

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ॥ ८१ ॥

८१—तीनों (कायिक, वाचिक, मानसिक) सत्योंमें (अथवा तीनों कालोंमें सत्य भगवान्‌की) भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है।

त्रिसत्य कायिक, वाचिक और मानसिक सत्यको कहते हैं। देवर्षि नारदजीको तीनों सत्योंसे भक्तिकी श्रेष्ठताका अनुभव हो चुका है। अतएव वे बार-बार यह घोषणा करते हैं कि भक्ति ही श्रेष्ठ है। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है। उपनिषद्‌में भी इसी प्रकार घोषणा की गयी है—

सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिमाश्रय। भक्तिनिष्ठो भव, भक्तिनिष्ठो भव। भक्त्या सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति भक्त्यासाध्यं न किञ्चिदस्ति।

(त्रिपादविभूतिनारायणोपनिषद्)

'सब उपायोंको छोड़कर भक्तिका ही आश्रय लो। भक्तिनिष्ठ होओ, भक्तिनिष्ठ हो जाओ, भक्तिसे सब सिद्धियाँ सफल हो जाती हैं।

ऐसी कोई बात नहीं है जो भक्तिसे न होती हो।' मुक्ति भी मिलती है और मुक्तिदाता भगवान् सगुणरूपसे भी साथ खेलते हैं। स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखके वचन हैं—

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१९)

'हे उद्धव! जैसे जोरसे जली हुई अग्नि काठके ढेरको भस्म कर डालती है, वैसे ही मेरी भक्ति सब (छोटे-बड़े) पापोंके समूहको जला देती है।'

भक्तके साधनकी रक्षा भगवान् करते हैं, और उसके फलस्वरूप अपनी प्राप्ति भी आप ही करवा देते हैं, और सबका इसमें अधिकार है। अतएव भक्तिसे श्रेष्ठ और क्या होगा? भगवान्‌ने इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें भी जगह-जगह भक्तिकी प्रशंसा की है। और बारहवें अध्यायमें तो भक्तको 'युक्ततम' तक कह दिया है। इसीलिये यहाँ देवर्षि नारद ताल ठोंक-ठोंककर मुक्तकण्ठसे वज्रगम्भीरस्वरसे घोषणा करते हैं कि कायिक, वाचिक, मानस तीनों सत्योंमें अथवा त्रिकालमें सत्य भगवान्‌की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति ॥ ८२ ॥

८२—यह प्रेमरूपा भक्ति एक होकर भी १ गुणमाहात्म्यासक्ति, २ रूपासक्ति, ३ पूजासक्ति, ४ स्मरणासक्ति, ५ दास्यासक्ति, ६ सख्यासक्ति, ७ कान्तासक्ति, ८ वात्सल्यासक्ति, ९ आत्मनिवेदनासक्ति, १० तन्मयतासक्ति और ११ परमविरहासक्ति—इस प्रकारसे ११ प्रकारकी होती है।

जो महात्माजन प्रेमरूपा भक्तिकी पूर्णताको पहुँच जाते हैं, उनमें तो यह सभी आसक्तियाँ रहती हैं, जैसे श्रीव्रजगोपियोंमें थीं; जिनका उदाहरण देवर्षि नारदजी पहले दे चुके हैं। सबका विकास नहीं होता तो अपनी-अपनी रुचिके अनुसार इनमेंसे केवल एक या एकाधिक भावोंसे भगवान्‌के साथ प्रेम किया जाता है। प्रेम एक ही वस्तु है? इसलिये इन प्रेमियोंमें प्रेमासक्तिके भेदसे किसीमें ऊँच-नीचकी भावना नहीं करनी चाहिये।

इन भिन्न-भिन्न आसक्तियोंसे भगवान्‌को भजनेवाले असंख्य भक्त हो गये हैं। उदाहरणके लिये कुछ नाम यहाँ दिये जाते हैं—

१-गुणमाहात्म्यासक्त भक्त-देवर्षि नारद, महर्षि वेदव्यास, शुकदेव, याज्ञवल्क्य, काकभुशुण्डि, शेष, सूत, शौनक, शाण्डिल्य, भीष्म, अर्जुन, परीक्षित, पृथु, जनमेजय आदि।

२-रूपासक्त भक्त-मिथिलाके नर-नारी राजा जनक, दण्डकारण्यके ऋषि, व्रजनारियाँ आदि।

३-पूजासक्त भक्त-श्रीलक्ष्मीजी, राजा पृथु, अम्बरीष, श्रीभरतजी आदि।

४-स्मरणासक्त भक्त-प्रह्लादजी, ध्रुवजी, सनकादि।

५–दास्यासक्त भक्त–श्रीहनूमान्‌जी, अक्रूरजी, विदुरजी आदि ।

६–सख्यासक्त भक्त–अर्जुन, उद्धव, सञ्जय, श्रीदाम, सुदामादि ।

७–कान्तासक्त भक्त–अष्ट पटरानियाँ आदि ।

८–वात्सल्यासक्त भक्त–कश्यप-अदिति, सुतपा-पृश्नि, मनु-शतरूपा, दशरथ-कौसल्या, नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी आदि ।

९–आत्मनिवेदनासक्त भक्त–श्रीहनूमान्‌जी, राजा अम्बरीष, राजा बलि, विभीषणजी, शिबि आदि ।

१०–तन्मयतासक्त भक्त–याज्ञवल्क्य, शुक, सनकादि ज्ञानीगण अथवा कौण्डिन्य, सुतीक्ष्ण आदि प्रेमी मुनिगण ।

११–परमविरहासक्त भक्त–उद्धव, अर्जुन, व्रजके नर-नारी ।

श्रीगोपीजनोंमें ग्यारहों प्रकारके प्रेमका विकास था । परन्तु उपर्युक्त भक्तोंमें एक-एक प्रकारके ही प्रेमका विकास था सो बात नहीं है । जिस भावकी प्रधानता थी उसीमें उनका नाम लिख दिया गया है ।

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः ॥ ८३॥

८३–कुमार (सनत्कुमारादि), वेदव्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनूमान्, विभीषण आदि भक्तितत्त्वके आचार्यगण लोगोंकी निन्दा-स्तुतिका कुछ भी भय न कर (सब) एकमतसे ऐसा ही कहते हैं (कि भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है)।

देवर्षि नारद भक्तितत्त्वके प्रधान-प्रधान आचार्योंका मत देकर अपने कथनकी पुष्टि करते हैं। ये सभी महापुरुष भक्तितत्त्वके ज्ञाता और आचार्य हुए हैं। सनत्कुमार नित्य 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जाप करते रहते हैं और भक्तिमार्गके प्रधान प्रवर्तक हैं। भगवान् श्रीवेदव्यासने अठारहों पुराणोंमें भक्तिको ही मुख्य बतलाया है, उनका श्रीमद्भागवत तो भक्तिकी खानि ही है। श्रीशुकदेवजीकी भक्तिका क्या कहना? भक्तिरसप्रधान श्रीमद्भागवत उन्हींके मुखसे निकला हुआ सुधासमुद्र है। महर्षि शाण्डिल्यके भक्तिसूत्र ही उनके भक्तितत्त्वके एक प्रधान आचार्य होनेका प्रमाण दे रहे हैं। महर्षि गर्गकी गर्गसंहितामें भक्तिका प्रवाह बहता है। महर्षि विष्णु प्रधान स्मृतिकार थे। एक विष्णुस्वामी प्रसिद्ध भक्तिसम्प्रदायके आचार्य हुए हैं। कौण्डिन्यजीने तन्मयतासक्तिमें सिद्धि प्राप्त की थी ऐसा माना जाता है। भगवान् शेषजी तो दिन-रात सहस्र मुखोंसे हरिगुणगान ही करते हैं। आप दास्यभावके परम आचार्य हैं। दासस्वरूप लक्ष्मणके रूपमें आपने ही अवतार लिया था। उद्धवजी महाराज भगवान् श्रीकृष्णके प्रधान सखा थे। आरुणिको निम्बार्कका नामान्तर मानते हैं, आप युगल स्वरूपके उपासक थे। राजा बलि सर्वात्मनिवेदनासक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप हैं, इनके भक्तिबलसे भगवान्ने स्वयं इनका द्वारपाल बनना स्वीकार किया था। प्रातःस्मरणीय भक्तराज श्रीहनूमान्जीका दास्यभाव प्रसिद्ध है। महाभाग विभीषणजीने भक्तिके प्रतापसे भगवान् श्रीरामचन्द्रका सख्य प्राप्त किया था। इन भक्तिशास्त्रके सभी आचार्योंने लोगोंकी निन्दा-स्तुतिकी कुछ भी परवा न कर

भक्तिकी महिमा गायी है और अपने जीवनद्वारा भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध की है। इन्हींके मतके अनुसार श्रीनारदजी भी निर्भय होकर भक्तिका डंका बजा रहे हैं।

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति ॥८४॥

८४–जो इस नारदोक्त शिवानुशासनमें विश्वास और श्रद्धा करते हैं वे प्रियतमको पाते हैं, वे प्रियतमको पाते हैं।

अबतक भक्तिशास्त्रकी व्याख्या करके अब सूत्रकार उसका फल वर्णन करते हैं। देवर्षि कहते हैं कि जो इस मेरे कहे हुए परम कल्याणमय उपदेशपर या भक्तितत्त्वके आदि आचार्य साक्षात् भगवान् श्रीशिवजीके किये हुए उपदेशपर विश्वास और श्रद्धा करते हैं वे भगवान्‌को 'प्रियतम' रूपसे प्राप्त करते हैं। विश्वास और श्रद्धा हुए बिना तो कुछ भी नहीं होता। संशयात्माका तो पतन ही होता है—'संशयात्मा विनश्यति' (गीता ४ । ४०)। फिर, विश्वास और श्रद्धा करनेसे ही उसके लिये साधन होता है। अतएव विश्वास और श्रद्धा करके भक्ति करनी चाहिये। अन्यान्य साधनोंद्वारा भगवान् अन्यान्य रूपोंमें प्राप्त होते हैं परन्तु भक्तिद्वारा तो वे 'प्रियतम' रूपमें मिलते हैं। यह प्रेम ही चरम या पञ्चम पुरुषार्थ है, जिसमें मोक्षका भी संन्यास हो जाता है। यही जीवनका परम फल है।

बोलो भक्ति, भक्त और भगवान्‌की जय !

श्रीकृष्णार्पणमस्तु !